सार्वजनिक अर्थ

[*PUBLIC FINANCE*]

Sarvajanik Artha

सार्वजनिक अर्थ

[*PUBLIC FINANCE*]

लेखक

केदारनाथ प्रसाद, एम०ए०,

["आधुनिक अर्थशास्त्र" (सैद्धान्तिक पक्ष), "नागरिकशास्त्र" (नागरिक और राज्य), "व्यावसायिक संगठन", "मुद्रा-शास्त्र और बैंक-शास्त्र", "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वैदेशिक विनिमय", आदि ग्रन्थों के रचयिता]

अर्थशास्त्र-विभाग, पटना कॉलेज,

पटना विश्वविद्यालय

प्रकाशक

पुस्तक-भंडार

पटना और लहेरियासराय

समर्पण

श्रद्धेय श्री जयनारायण प्रसाद जी,

(सदस्य, विधायिका सभा, बिहार)

के

कर-कमलों में सादर

समर्पित

भूमिका

"The girl covets beauty, the mother riches, the father knowledge, the relations good family, and other people sumptuous marriage-feast."

संस्कृत का वह श्लोक तो मुझे स्मरण नहीं जिसका भावार्थ उपर्युक्त वाक्य में मैंने आपके सामने उपस्थित किया है। प्रत्येक माँ चाहती है कि उसकी दुलारी बेटी धनी के घर जाय जहाँ वह सुखपूर्वक रहे, भले ही किसी की बेटी निर्धन प्रियतम की प्रेयसी अपनी ही राजी-खुशी से बन जाय! सरकार का मन भी माँ के मन-जैसा होता है। पूर्वांकित उक्ति का यही आशय है। सरकार अपनी प्रजा से कर वसूलती है और वह अधिकाधिक कर हथियाना चाहती है। आखिर, सरकार भी तो रुपए-पैसे का खेल है! लेकिन जब हमारी जेब से कोई व्यक्ति, मजाक में नहीं, जान-बूझकर एक पैसा भी निकालने लगता है तब हम उसका डटकर सामना करते हैं। मानव-प्रकृति अपने स्वाभाविक आवरण में ऐसी ही है। पहले की सरकारें लोगों की जेबों के साथ छेड़खानी करना पसन्द नहीं करती थीं। अर्थ-क्रीड़ा के छक्के-पंजे से बहुत दूर उनका अस्तित्व था। सभ्यता की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ वे जन-जीवन के समीप आने लगीं। सरकार सेना रखती तो सैनिक हक-तलब पाते। राजकीय कोष में स्वर्ण तथा रजत की मुद्राओं का कोई पारावार नहीं रहता। उनकी झनझनाहट के सामने अलकापुरी की मादक झंकार भी फीकी पड़ जाती। समय ने अठारहवीं शताब्दी में पैर रक्खा। राज्य ने अपने नागरिक रूपी राजहंसों के पंखों को अपनी मृदुल उँगलियों से नोंचना आरम्भ कर दिया, परन्तु उनकी प्रथम कराहट पर ही उसकी उँगलियाँ निस्पन्द हो जातीं। सरकार धनी-गरीब के बीच निर्वाक् एवं निष्क्रिय बनकर खड़ी रहती। समय ने करवट बदली। कर लगाए जाने लगे। मगर अर्थ-सचिव सदैव सतर्क रहते कि राजकीय आय-व्यय-पत्रक बिल्कुल नपा-तुला और संतुलित रहे—न बचती हो, न कमी हो। आय और व्यय के पलड़ों का काँटा एकदम

स्थिर रहे। काल-चक्र कुछ और आगे खिसका। राज्य के क्रोड़-पत्र में असंतुलन होने से अब उतनी बेचैनी की कोई जरूरत नहीं रही। व्यापारिक धूम है तो अवशेष-पत्रक तैयार कर लीजिए, व्यापारिक सुस्ती है तो घाट्य-पत्रक बना डालिए! अधिक सबल कंधों पर कर का भार अधिकतम और निर्बल कंधों पर उसका बोझ न्यूनतम पड़ना ही चाहिये। सूखी हड्डियों में माँस और लहू समाविष्ट हो, इसकी फिक्र आज की सरकार को है। इस फिक्र की मात्रा दिनोंदिन बढ़ती जाय, यह सब चाहते हैं। इधर सरकारों को दुर्दिन में सार्वजनिक ऋण लेकर आय पर व्यय के आधिक्य को पूरा करने में थोड़ी-सी भी हिचकिचाहट नहीं होती। सामाजिक कल्याण के निमित्त प्रस्थापित कार्यों की प्रतिमाओं को तोड़ने-फोड़ने का दुस्साहस अब कौन करेगा! योजनाकरण के विरोध करनेवालों पर भी उनमें विद्यमान देवियों की नंगी तलवारों का आतंक क्रमशः छाता जा रहा है। सार्वजनिक अर्थ-पथ के ये तीन प्रमुख प्रगति के सूचक स्तम्भ हैं। यही सार्वजनिक अर्थ की प्रवृत्तियों की लघु गाथा है। इन्हीं प्रवृत्तियों का सविस्तार विवेचन मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है।

"सार्वजनिक अर्थ" पुस्तक मेरी पाचवीं पुस्तक है। इसके दो भाग हैं—प्रथम भाग में सार्वजनिक अर्थ-नीति के और द्वितीय भाग में सार्वजनिक ऋण-नीति के विविध पक्षों पर पर्याप्त प्रकाश डालने का यथासंभव प्रयास किया गया है। प्रथम भाग में सोलह और द्वितीय भाग में चार अध्याय हैं। यदि आप इसमें मेरी धृष्टता न समझें तो मैं एक बात कहना चाहूँगा। मैंने इस पुस्तक को बड़ी मिहनत से लिखा है। अर्थशास्त्र की अन्य शाखाओं पर लिखी दो-चार पुस्तकें हिन्दी में उपलब्ध भी हैं लेकिन भरपूर खोज-पड़ताल करने पर मुझे इस शाखा पर केवल एक छोटी-सी पुस्तक (जो वार्तालाप के रूप में लिखी गई है और जो लगभग ७० पृष्ठों को छोटे आकार में है) परम श्रद्धेय श्री भगवानदासजी केला द्वारा लिखित मिल सकी। पुस्तक की जिस युग में सृष्टि हुई थी वह युग तो अब इतिहास की धरोहर मात्र है। ऐसी परिस्थिति में मुझे विश्वास है कि मेरी यह किताब छात्रों को पसन्द आयगी और उनके लिए उपयोगी साबित होगी। मैंने अँगरेजी में लिखी

कई पुस्तकों के आधार पर इसका निर्माण किया है और इस विषय में पाठकों की अभिरुचि जाग्रत करने के लिए मैंने उनके नाम पुस्तक के अन्त में दे दिए हैं।

जिनकी अभिरुचि सार्वजनिक अर्थ के अध्ययन में अब तक परिष्कृत हो चुकी है, जो बास्टेब्ल की "अँगरेजी कढ़ी", शीराज की "भारतीय चटनी" का मजा ले चुके हैं और जिन्हें डा० बाबूराम मिश्र, प्रो० कृष्ण कुमार शर्मा, प्रो० जे० के० मेहता तथा प्रो० अग्रवाल की पुस्तकों में यू० पी० की "चाट" और डा० बालकृष्ण के मद्रासी "समोसा" का स्वाद मिल चुका है, वे मेरी पुस्तक में बिहारी "आँचार" को व्यर्थ न ढूंढेंगे, क्योंकि उसके तैयार करने में काफी वक्त लगता है और वह जितना ही पुराना होता है उसका सोंधापन उतना ही बढ़ता जाता है! यदि बन सका तो बहुत शीघ्र अपनी अग्रिम-कृति "भारतीय अर्थशास्त्र" में मैं उसे पाठकों के सामने परोस दूँगा।

इस बार मैं लम्बी भूमिका नहीं लिखूँगा, इतनी से ही संतोष कर लेता हूँ। पुस्तक दुर्गापूजा की छुट्टी के अभ्यन्तर ही निकल गई। इसका प्रकाशन तो पुस्तक-भंडार, पटना-४ ने किया है, लेकिन मुद्रण भारत-भूषण प्रेस पटना-१ के श्री परमानन्द राय जी, एम० ए० ने किया है। इसके बिना काम भी नहीं बनता। परमानन्द बाबू बड़े ही उत्साही जीव हैं। उनमें लगन है। उनकी तत्परता के लिए मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। पुस्तक-भंडार के कर्मचारी-मंडल में तीन व्यक्ति (सर्व श्री रामनन्दन बाबू, हरिशंकर बाबू, तथा यमुना बाबू) ऐसे हैं जिनका ख्याल बराबर मेरी पुस्तकों के यथाशीघ्र प्रकाशन और प्रचार पर रहा है।

यह तो कहने की चीज ही नहीं कि यह पुस्तक बी० ए० (पास तथा ऑनर्स) और बी० कॉम के छात्रों की समस्त आवश्यकताओं तथा भारत के कतिपय विश्व-विद्यालयों के परीक्षा-पत्रों को ध्यान में रखकर लिखी गई है। इससे सर्वसाधारण भी लाभान्वित हो सकते हैं। इन पंक्तियों से मैं अपने प्यारे छात्रों की भी सम्मतियों और सुझावों के लिए अभिलाषा प्रकट करना

चाहता हूँ। पुस्तक में छपाई की कुछ भूलें (खासकर अँगरेजी उद्धरणों में) रह गई हैं। उन्हें पाठक कृपया दुरुस्त कर लेंगे।

इस पुस्तक को यथाशीघ्र प्रकाशित कराने के लिए मेरे अग्रज श्री पशुपतिनाथ गुप्त जी का विशेष आग्रह रहा है। मेरा नन्हा-सा भाई प्रभुनाथ पुस्तक लिखते समय मुझे बड़ा तंग करता था। स्याही की दावात तक वह एक-दो बार उलट चुका है। यदि अँगरेज लेखक अपनी भूमिका में अपनी प्यारी बिल्ली और अपने प्यारे कुत्ते की भी चर्चा करना तक नहीं भूलते तो मैं ऐसी महत्वपूर्ण बात का उल्लेख करने से क्योंकर बाज आऊँ!

पुस्तक श्रद्धेय श्री जयनारायण प्रसाद जी (चम्पारण के तपे-तपाए नेता) को भेंट है। मैं अपने प्रति उनके प्रगाढ़ स्नेह को शब्दों में व्यक्त करने से सर्वथा असमर्थ हूँ क्योंकि वे मेरे लिये पितामह के तुल्य हैं। अन्त में मैं सार्वजनिक अर्थ की प्राचीन नीति के साथ अपनी भूमिका को समाप्त करना चाहूँगा—

"प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥"

(कालिदास)

अर्थात्,

"It was only for the good of the people that the king collected taxes from them, just as the sun draws moisture from the earth only to give it back a thousandfold."

ग्राम—शहिरी
डाकघर—विक्टोरिया मिशन
जिला—चम्पारण।
विजयादशमी, अक्टूबर, १९५१।

विनीत,
केदारनाथ प्रसाद,
अर्थशास्त्र-विभाग, पटना कॉलेज
पटना विश्वविद्यालय।

विषय-सूची

प्रथम भाग

प्रथम अध्याय

सार्वजनिक अर्थ

(Public Finance)

विषय — पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

प्रथम भाग
(PART ONE)

सार्वजनिक अर्थ-नीति

(PUBLIC FINANCE-POLICY)

प्रथम भाग

प्रथम अध्याय

सार्वजनिक अर्थ

(Public Finance)

सार्वजनिक अर्थ की प्रकृति

(Nature of Public Finance)

"सार्वजनिक अर्थ" का विषय उन विषयों में एक है जो अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की मध्यवर्ती सीमा पर खड़ा हैं। यह सार्वजनिक अधिकारियों की आमदनी और व्यय से संबंध रखता है। जनाधिकारियों में किसी देश की सभी सरकारें आती हैं। वे विस्तार, कार्य, आमदनी प्राप्त करने के उपाय और उसे व्यय करने के तरीके की प्रकृति के अनुसार विभिन्न होती हैं। यह विषय भी अर्थशास्त्र का ही एक भाग है और अर्थशास्त्र की भाँति जन-हित के लिए प्रयत्न करता है। यह इसे स्वीकार करता है कि मनुष्य सामाजिक जीव है और वह अर्थ कमाने और खर्च करने की भावना से प्रेरित रहता है। मानव-हित सबसे कम खर्च से सर्वाधिक हो सके यह इसीका कामी है। बहुत दिनों से लोग इस विषय की महत्ता स्वीकार करते आ रहे हैं। अर्थशास्त्र का प्राचीन नाम ही "Political Economy" राज्य की आमदनी और व्यय का बोधक है। स्मीथ ने इस विषय की परिभाषा करते हुए बतलाया था कि राज्य के व्यय और राजस्व के सिद्धान्तों की प्रकृति में जाँच-पड़ताल करना ही इस विषय का कार्य है।

यह संसार ही रुपये के बल पर चलता है। मनुष्य का जीवन जिस प्रकार मुद्रा द्वारा परिचालित हुआ करता है, उसी प्रकार राज्य का

जीवन भी। किसी देश के बजट-आय-व्यय-पत्रक को देखकर हम बतला सकते हैं कि उस देश की आर्थिक स्थिति कैसी है। भारतवर्ष में रुपये का अभाव है। चाणक्य ने दो हजार वर्ष पहले लिखा था कि पैसे की मदद से कोई काम शुरू किया जाता है। अर्थशास्त्र के कुछ सिद्धान्तों के आधार पर धनी और गरीब का भेद कुछ-कुछ मिटाने की कोशिश की जाती है। अतः इस विषय का अध्ययन बहुत ही आवश्यक है।†

सार्वजनिक बनाम वैयक्तिक अर्थ
(Public Vs. Private Finance)

सरकार को भी बहुत-सी इच्छाओं को पूर्ण करना पड़ता है। इसके लिए उसे मुद्रा की जरूरत पड़ती है। सार्वजनिक अर्थ का यह विषय उस रीति से संबंधित है जिससे आमदनी उत्पन्न की जाती है और उसे खर्च किया जाता है। व्यक्ति अपनी सामर्थ्य अर्थात् आमदनी के अनुसार खर्च करता है। सरकार पहले खर्च कितना लगेगा विचार कर लेती है और उसीके बराबर आमदनी प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगती है। व्यक्ति चादर के बराबर ही पैर पसारता है, परन्तु सरकार अपनी लंबाई पहले निर्धारित करके उतने के बराबर चादर पाने का इन्तजाम करती है। कभी मनुष्य भी अपनी आवश्यकता देखकर उसको पूर्ण करने के लिए रुपये-पैसे का इन्तजाम करता है। घटने पर उधार-पैचा करता है। सरकार भी मन्दी के समय में जितनी

---

† "Public Finance lies very close to practical politics. It is, in this sense, the most live branch of economics. Its precepts, and its formulas may change, at the wave of a politician's wand, into the clauses of an Act of Parliament. Here, move easily than anywhere else in economics, theory and practice may either play into each other's hands, or remain at cross purposes. Studies in Public Finance have, for this reason, a special fascination, but for the same reason an excess of abstraction is apt, in this sphere, to seem especially unreal and an excess of conventional rule-of-thumb especially half-witted" (Dalton)

आमदनी मिलती है उतने से ही अपना काम चलाने की चेष्टा करती है। परन्तु यह सदैव घटित नहीं होता। सरकार के लिए समय की अवधि निश्चित रहती है, परन्तु व्यक्ति के लिए नहीं। सरकार का बजट प्रति वर्ष बनता है। व्यक्ति को जब जरूरत पड़ती है तब वह कर्ज ले लेता है और अधिक मिहनत कर बेशी पैसा कमा लेता है। सरकार भी जरूरत पड़ने पर लोगों से कर्ज ले सकती है। यह कर्ज अपनी प्रजा से मिल सकता है या बाहर के देशों से। वह पत्र-मुद्रा भी छाप सकती है। लेकिन कोई भी मनुष्य नोट नहीं छाप सकता और छापे तो जेल में बन्द कर दिया जाय। खर्च करते समय सरकार और व्यक्ति दोनों समसीमान्त उपयोगिता के नियम का अमल करते और इस प्रकार खर्च करते हैं कि प्रत्येक मद से समान संतोष प्राप्त हो। सरकार दलबन्दियों द्वारा आन्दोलित होती है। जिस दल के द्वारा वह पदस्थ होती है उसके लिए सरकार अधिक खर्च करती है। कोई भी आदमी बिना आमदनी के बढ़े अपना व्यय नहीं बढ़ा सकता। परन्तु सरकार अपने खर्च को बढ़ाकर किसी पदार्थ का उत्पादन बढ़ा सकती है और इससे लाभ हो सकता है। मनुष्य भी खर्च करते समय यह देखा करता है कि उसका भावी और वर्तमान दोनों सुख एक-से हों, वह दोनों कालों में समान लाभ उठा सके। सरकार को भी इसका ख्याल रखना चाहिये। उसे भी जनता के भावी हित के लिये पहले से ही इन्तजाम करना चाहिए। सार्वजनिक अर्थनीति में काफी परिवर्तन हो सकता है, परन्तु मनुष्य की अर्थनीति में नहीं, क्योंकि वह उससे अभ्यस्त हो गया रहता है। फिर भी, जैसा कि महाशया हिक्स ने बतलाया है राज्य व्यक्तियों की सम्पूर्ण आमदनी के अनुपात को ही, जो व्यक्तिगत और सार्वजनिक उपयोगों में विभाजित है, प्रभावित कर सकता है, वह आमूल परिवर्तन नहीं कर सकता है। सरकार के बजट में बचत होना उसकी कमजोरी का द्योतक है। व्यक्तिगत अर्थनीति कुहेलिका में छिपी रहती है, परन्तु सरकार की अर्थनीति सर्वविदित है।

जैसा हम अभी कह आए हैं व्यक्ति अपने व्यय को अपनी आमदनी से अभियोजित (Adjust) करता है अर्थात् वह उतना ही पैर पसारता है जितनी लम्बी उसकी चादर होती है। दूसरी ओर, सरकार अपनी आमदनी को अपने व्यय के साथ अभियोजित करती है। दूसरे शब्दों में, राज्य पहले सोच लेता है कि उसे कितना पैर पसारना है। उसके बाद वह आवश्यक कपड़े की खोज और प्राप्ति करता है। लेकिन यह बात चिरंतन सत्य नहीं। विशिष्ट अवसरों पर, जैसे विवाह-शादी, श्राद्ध, प्रभृति, मौके पर, व्यक्ति अपनी आय को व्यय के साथ अभियोजित करता है। कुछ अधिक मिहनत करके अधिक पैसा अर्जित करता और व्यय करता है। विशिष्ट समय में सरकार को भी व्यक्ति की तरह अपने व्यय को अपनी आय से अभियोजित करना पड़ता है। संकट के काल में छटनी (Retrenchment) की नीति अपनानी पड़ती है। खुशी के काल में उसे अधिक खर्च करना पड़ता है। सरकार नहरें बनवाती है, जहाज बनवाती है, आदि। इसीको लक्ष्य करके कुछ व्यक्ति कहते हैं कि सार्वजनिक अर्थनीति और वैयक्तिक अर्थनीति में कोई तात्त्विक विभेद नहीं है। दूसरे शब्दों में दोनों में आंशिक फर्क है, भेद का अन्तर नहीं है (difference of degree and not of kind)। ये लोग (organic concept) के आधार पर यह भी तर्क पेश करते हैं कि सरकार का क्रोड़-पत्र व्यक्तियों के क्रोड़-पत्रों का सामूहिक रूप है। दोनों क्षेत्रों में समान भावना परिव्याप्त रहती है।

व्यक्ति के जीवन में बचत और अभाव के बीच संतुलन करने के लिए एक वर्ष की अवधि कोई प्रमाप नहीं, कोई माप-दंड नहीं। लेकिन राज्य के लिए एक वर्ष की अवधि का प्रचुर महत्व होता है। व्यक्ति भले ही उस काल की फिक्र न करे जिस बीच पृथ्वी अपनी धुरी पर सूर्य की परिक्रमा कर जाती है-- लेकिन सरकार तो करती ही है।

सार्वजनिक आय-व्यय का कार्य अनुमान पर आश्रित है, वैयक्तिक आय-व्यय का कार्य ठीक और ठोस हिसाब-किताब पर। सरकार भीतर-बाहर कर्ज ले सकती है, लेकिन व्यक्ति अपने आप से कर्ज नहीं ले सकता। राज्य के नागरिक सरकार को कर्ज दे सकते हैं। सरकार उनसे जबरदस्ती कर्ज ले सकती है। यही "Compulsion" का तत्व वैयक्तिक एवं सार्वजनिक अर्थनीति की विभिन्नता का एक ठोस स्तम्भ है। वह कर्ज वापस कर सकती है। मगर वह वापस करने के लिए बाध्य भी नहीं। वह मुद्रा-स्फीति (अधिस्फीति) का सहारा ले सकती है। वह उसका "अलक्षित हस्त" है। व्यक्ति बेचारे को यह सुविधा नहीं। यदि वह मुद्रा बनाने की धृष्टता करे तो उसे जेल की हवा खानी पड़ेगी। अधिक से अधिक वह दूसरों से कर्ज ले सकता है।

व्यक्ति पैसा खर्च करते समय समसीमान्त उपयोगिता हासिल करने की चेष्टा करता है। वह इस प्रकार से अपनी आय खर्च करता है कि उसको व्यय के प्रत्येक मद से समान उपयोगिता उपलब्ध हो। वैसी ही दशा में उसे सर्वाधिक उपयोगिता या संतोष मिल सकता है। इसलिए कहा गया है कि व्यक्ति दाम और उपयोगिता में संतुलन स्थापित करता है। सरकार व्यय और कल्याण के मध्य संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न करती है। यह ठीक है कि यथार्थ जीवन में बहुत-से लोग समसीमान्त उपयोगिता के नियम से लाभ नहीं उठाते, परन्तु इससे हम अपने कथन को सारहीन नहीं मान सकते। व्यक्तिगत आय-व्यय में व्यक्तिनिष्ठ तत्व की प्रधानता है, सार्वजनिक आय-व्यय में पदार्थनिष्ठ तत्व की। सरकार भी इस प्रकार अर्थ-व्यय करती है कि उससे सर्वाधिक सार्वजनिक कल्याण हो सके। जब सरकारी व्यय के प्रत्येक मद से समान कल्याण प्रस्तुत होता है तब सामाजिक कल्याण सर्वाधिक होता है। अतएव हमारा निष्कर्ष यह है कि सरकारी क्षेत्र में

उपयोगिता का माप-दंड पदार्थनिष्ठ है, व्यक्तिगत क्षेत्र में वह व्यक्तिनिष्ठ।

प्रो० शीराज ने लिखा है, "The Government is much more liberal and far-sighted. Individuals cannot look beyond their nose while acting."। यह अतिशयोक्ति है। डा० डालटन का विचार मान्य प्रतीत होता है। वे कहते हैं कि व्यक्ति अपनी आय का व्यय इस प्रकार से करता है कि वर्तमान और भविष्य से समान उपयोगिता मिले। वह कुछ धन बचाकर रखता है जिससे भविष्य में आपत्ति आने पर वह उसका सामना कर सके। हाँ, कुछ लोग ऐसे हैं जिनके लिए भविष्य का महत्व बहुत ही कम मालूम पड़ता है। लेकिन राज्य के साथ यह बात नहीं। सरकार अधिक दूरन्देश है। वह अधिक उदार है। समाज शाश्वत है। सरकार सार्वकालीन भी है। इसलिए सरकार को वर्तमान के लिए जितना प्रबन्ध करना है, भविष्यत् के लिए भी उससे कम प्रबन्ध नहीं करना है। सरकार इस तरह की बात सोच भी नहीं सकती कि "हमारी भावी संतति ने हमारे लिये क्या किया है कि हम उसके लिए कोई त्याग करें?" सरकार तो ऐग्रिकोला के शब्दों में सोचती है–Think of your ancestors and of your posterity"।

सरकार सार्वभौम सत्ता (Sovereign Body) है। उसका स्वत्व अपनी प्रजाओं की सम्पूर्ण जमीन-जायदाद पर है जिसे "Right of Eminent Domain" कहते हैं। वह अपने आय-व्यय में कोई भी परिवर्तन बड़ी शीघ्रता के साथ कर सकती है। वह किसी से मुद्रा ले सकती है। व्यक्ति के लिए इस तरह की संभावना नहीं। यही एक तर्क है जिसके बल पर हम दोनों अर्थनीतियों में तात्त्विक अन्तर बतला सकते हैं। पुनः राज्य को मुनाफा अर्जन करने की कोई आकांक्षा नहीं रहती जैसा हम व्यक्तियों में पाते हैं कि वे कुछ न कुछ बचाने की धुन में रहते हैं। फिर भी राज्य 'संतोष' के रूप में लाभार्जन की आकांक्षा अवश्यमेव रखता है।

फिर व्यक्ति के लिए बचत देनेवाला आय-व्यय पत्रक (Surplus Budget) अच्छा है, लेकिन सरकार के लिए नहीं। (Surplus Budget is a virtue for an individual but not for the State)। इसकी वजह यह है कि अवशिष्ट पत्रक रहने पर इसका अर्थ होगा कि सरकार उचित खर्च जन-हित के निमित्त नहीं कर रही है।

अन्ततः व्यक्तिगत आय-व्यय रहस्यपूर्ण है। कोई आदमी अपने वैभव की जानकारी किसी से नहीं कराना चाहता, क्योंकि इसको आँख लग जाने की आशंका रहती है। लेकिन सरकार को अपने आय-व्यय पर पर्याप्त प्रकाश डालकर सर्वसाधारण को उनसे अवगत कराना पड़ता है। उसे प्रकाशन को ग्रहण करना पड़ता है।

वैयक्तिक अर्थ एवं सार्वजनिक अर्थ के बीच ऋण-समस्या को लेकर जो समता या विषमता हो जाती है उसपर हम ऊपर प्रकाश डाल आये हैं। सरकार आम जनता से कर्ज लेकर आम जनता की भलाई में उसे खर्च कर डालती है। ऐसा हो सकता है कि उन व्यक्तियों को भी सार्वजनिक व्यय से फायदा पहुँचे जिन लोगों ने सरकार को ऋण दिया है। इस तरह कर्ज देने वाले अपनी भलाई के लिए ही सरकार को कर्ज देते हैं। हाँ, यह ठीक है इससे उनकी पूरी भलाई नहीं होती, आंशिक भलाई होती है। लेकिन जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से उधार लेता है तब वह उधार ली हुई रकम को पूरे रूप से अपने उपयोग में, अपनी भलाई में खर्च करता है। प्रो० मेहता और प्रो० आग्रवाल के शब्दों में "The difference between public debt and private debt is due to the fact that when a man lends to the government he, in reality, leurds it to himself, at best for partial use."। फिर, सरकार लिए कर्ज को वापस करने के लिए आम जनता पर कर लगा सकती है और ऐसा

हो सकता है कि वह उनलोगों से भी कुछ कर वसूल करे जिन लोगों को उसे कर्ज वापस लौटना है। अब वे जितना कर दे देते हैं उस रकम के बराबर कम कर्ज उनको वास्तव में वापस में मिलता है। व्यक्तिगत ऋण में यह सवाल नहीं उठता।

व्यक्तिगत ऋण और सार्वजनिक ऋण में कुछ और भी विभिन्नताएँ है। वे ये हैं—सार्वजनिक ऋण पर सरकार जो सूद देती है वह व्यक्तिगत ऋण पर दिए सूद से अनुपाततः कम होता है। सूद की दरों में क्यों फर्क पड़ता है इसको पाठक "सूद" के सिद्धान्त में पढ़ चुके होंगे। दूसरी बात, व्यक्तिगत ऋण आम तौर से खपत के लिए काढ़े जाते हैं लेकिन सार्वजनिक ऋण खपत के अलावे दूसरे दूसरे कार्यों के लिए। युद्ध चलाने, सड़क या पुल बनवाने के लिए, आदि कामों के लिए सार्वजनिक ऋण लिए जाते हैं।

द्वितीय अध्याय

सार्वजनिक अर्थनीति का ध्येय और सिद्धान्त

(Objective and Principle of Public Finance)

सर्वाधिक सामाजिक लाभ का सिद्धान्त

(Principle of Maximum Social Advantage)

लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व यह सिद्धान्त सर्वग्राह्य था कि एकदम कम खर्च किया जाय और बहुत ही कम कर लिया जाय। अभी भी कितने लोग हैं जो कहते हैं कि प्रत्येक कर एक अभिशाप है। यह धारणा दो बातों पर आधारित है। एक बात तो यह है कि व्यक्तिवाद के युग में सरकार को मनुष्य की सम्पत्ति और स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करना सर्वथा अनुचित है। दूसरी बात यह है कि सरकार पैसे को निरर्थक कामों में खर्च करती है, जहाँ कि लोग सार्थक कामों में। इस-लिए सरकार वही सर्वोत्तम है जो "शून्य" सरकार हो और सार्वजनिक अर्थनीति वही सबसे अच्छी है जो एकदम कम आमदनी प्राप्त करती और खर्च करती है, परन्तु ऐसा विचार सर्व-सम्मत नहीं है। कर अभिशाप नहीं है। अलकोहल पर कर लगाने से उसका भाव बढ़ सकता है और इससे उसकी खपत कम हो सकती है। इससे लोगों की भलाई हो सकती है। यह कहना कि सभी लोग अच्छे मदों में अपना कुल पैसा खर्च करते हैं, पूर्ण सत्य नहीं। आज जो पैसा धनी जुआ, आदि में खर्च करते हैं उसे सरकार लेकर स्कूल खोलने के काम में खर्च कर सकती है और उससे लोगों की भलाई हो सकती है। फिर भी युद्ध, आदि कामों में सरकार का अत्यधिक पैसा खर्च करना अनुचित है। यदि बेकारी के मद में बड़ी रकम सरकार खर्च नहीं

करती है और उत्पादन का विकास नहीं करती है तो यह सर्वथा अनुचित है। कितने ऐसे कर हैं जो उत्पादन को रोक देते हैं। भारी आय-कर और मृत्यु-कर से बचत करने में कुछ बाधा पहुँचती है।

सरकार को अपनी अर्थनीति को ऐसा बनाना चाहिए कि उससे देश का अधिकाधिक लाभ हो सके। सरकार कर, आदि के द्वारा धन एकत्र करती है और उसे देश की भलाई में खर्च कर डालती है। इस तरह एक वर्ग से दूसरे वर्ग के पास पैसा जाता रहता है। इस तरह सम्पत्ति और उत्पादनमें हेर-फेरहोता रहता है। इससे लाभ भी पहुँचता है। अतएव "कर के बोझ" की निरपेक्ष चर्चा करना व्यर्थ है। कर से लाभ भी होता है। यदि सरकारी खर्च से मानव-हित होता है तो सरकार का काम उपादेय है। सरकार सार्वजनिक शिक्षा और स्वास्थ्य पर खर्च करके आर्थिक सुख की सृष्टि करती है। इस कार्य से जितना मानव-हित होता है उतना ऐयाशी चीजों पर रुपया-पैसा खर्च करने से नहीं। कितने लोग सरकारी खर्च को बढ़ते देखकर सरकार की निन्दा करते हैं। सभ्यता का जैसे-जैसे विकास होता जाता है वैसे-वैसे सार्वजनिक व्यय भी बढ़ता जाता है। मितव्ययिता की जरूरत सर्वत्र है। परन्तु सच्ची और झूठी मितव्ययिता में काफी फर्क है। हमें इस चतुराई से खर्च करना है जिससे नतीजा सबसे अधिक सुन्दर हो। सार्वजनिक अर्थनीति के अनुसार सरकार कर, आदि द्वारा क्रय-शक्ति का हस्तान्तर धनी व्यक्ति से गरीब व्यक्ति के हाथों में होता है। वही सरकारी खर्च अच्छा है जो भारी होने पर भी भविष्य में काफी लाभ पहुँचाता है। कुछ सरकारी खर्च हल्का होने पर भी कोई लाभ नहीं देता। अतः कर के औचित्य पर विचार करते समय हमें उसकी सृष्टि और चरित्र पर भी दृष्टिपात करना होगा। दूसरी बात यह है कि सार्वजनिक खर्च पर केवल सामाजिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी विचार करना होगा। देश की रक्षा विदेशी आक्रमण से करने के लिए यदि खर्च किया जाय तो वह सामूहिक कल्याण के दृष्टिकोण से अच्छा होगा, भले ही आर्थिक

दृष्टिकोण से अच्छा नहीं। तीसरी बात यह है कि हमें करकी प्रणाली की प्रकृति और उपायों पर भी विचार करना होगा। एक ही रकम को कई उपायों से वसूल किया जा सकता है। एक उपाय से बोझ भारी और दूसरे उपाय से बोझ हल्का जान पड़ेगा। चौथी बात यह है कि कर लगाने का जो असर समाज की उत्पादनकर्त्री शक्ति पर पड़ता है, वह विचारणीय है। यदि कर का असर बचत करने की शक्ति और इच्छा पर बुरा पड़ता है तो वह ग्राह्य नहीं।

डाल्टन महोदय के अनुसार सामाजिक हित की पहली कसौटी समाज को आन्तरिक गड़बड़ी और विदेशी आक्रमण से बचाने की शक्ति है। सरकार का काम आर्थिक और गैर-आर्थिक भलाई को बढ़ाना है। दूसरी कसौटी उत्पादन में विकास और तीसरी कसौटी वितरण में विकास है। उत्पादन में विकास का मतलब थोड़ी मिहनत से अधिक उपार्जन करना है। इससे आर्थिक उपादानों के अनुचित नाश से बचना भी समझा जाता है। वितरण के विकास से समाजगत विषमता का निराकरण व्यंजित होता है। यदि इन कार्यों में सरकार सफल होती है तो सार्वजनिक अर्थनीति को सफल कहना चाहिये। यदि इन प्रयासों का प्रभाव स्वस्थ एवं हितकर साबित होता है तो ये प्रयास अभिनंदनीय कहे जा सकते हैं।

अतः कर-प्रणाली पर विचार करने के लिए हमें इन बातों का ख्याल करना चाहिये। सरकार की आमदनी कम करना इसलिए अच्छा नहीं कि ऐसा करने से लोगों को तो अपने कामों में खर्च करने के लिए काफी पैसा मिलेगा, परन्तु सार्वजनिक कार्य को पूरा करने में सरकार की शक्ति न्यून हो जायगी। सरकार को विविध करों की प्रकृति पर विचार करके उनको ही चुनना चाहिये जिनसे जनता का सच्चा कल्याण हो सके। सच्चे निर्णय पर पहुँचने के लिए कठिनाइयों का आलिंगन करना पड़ेगा। हमें प्राचीन ग्रीक-लोगों के कथन से संतोष करना चाहिये कि "सहज चीजें ही सुन्दर नहीं होतीं, बल्कि कठिन चीजें भी यथार्थ में सुन्दर होती हैं"।

जो लोग सरकारी कर-नीति और व्यय-नीति का तिरस्कार करते हैं वे फ्रांसिसी अर्थशास्त्री जे० बी० से के अनुयायी हैं जिसने लिखा था "The best of all plans of Public Finance is to spend little and the best of all taxes is that which is least in amount"। सार्वजनिक आय-व्यय की नीति के संबंध में निष्कर्ष देने के पूर्व हमें उसके दोनों पक्षों पर विचार करना होगा। अगर कर लगाने से लोगों को तकलीफ होती है तो सरकार के कई क्षेत्रों में खर्च करने पर बहुतों को फायदा भी होता है। जिस तरह "कर का बोझ" होता है उसी तरह "सार्वजनिक व्यय का लाभ" भी होता है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अति सरल तो है पर वह अमाह्य है। यह आधुनिक परिस्थतियों पर विचार नहीं करता। आर्थिक भलाई ही सार्वजनिक अर्थनीति की सच्ची कसौटी है। अगर वह आर्थिक भलाई (समाज की) को बढ़ा पाती है तो वह सफल है, हितकर है। अगर वह उसे नहीं बढ़ा पाती तो वह विफल और अहितकर कही जायगी। डाल्टन तो बहुत प्रगतिशील विचार प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन है कि यदि जनमत सरकारी व्यय की वृद्धि का समर्थन करता हो और अर्थ-सचिव ऐसी वृद्धि नहीं करना चाहता हो तो उसे पद-त्याग करना चाहिये। "If a chancellor of the Exchequer has not considered the expenditure to be reasonably necessary, he should have resigned"। यह ठीक है कि हमें मितव्ययिता की नीति ग्रहण करनी चाहिये। लेकिन मितव्ययिता झूठी भी हो सकती है और सच्ची भी। व्यय बुद्धिमानी के साथ भी हो सकता है और बेवकूफी के साथ भी। सार्वजनिक अर्थनीति सस्ते कथनों की शृंखलामात्र नहीं। "Public Finance is not a mere string of catch-penny maxims." ग्लैडस्टोन के समय तक सार्वजनिक व्यय को उपेक्षा भरी दृष्टि से देखा जाता था। स्वयं ग्लैडस्टोन ने लोगों की जेब में पैसा पड़े रहने देने की घोषणा की थी मानों पैसा वहाँ बच्चा देता है!

"Leaving money to fructify in the pockets of the people" as though it were a ripenning cheese ! छटनी—Retrenchment—एक आशाभरा शब्द है लेकिन उसका व्यवहार सार्वजनिक अर्थनीति में जिस तरह से लोग करने की राय देते हैं उसी तरह से उन्हें व्यक्तिगत जीवन भी में उसका समर्थन करना चाहिये।

हाँ, यह जरूरी है, जायज है कि सरकार को कोई भी कर लगाते समय खूब सोच-विचार लेना चाहिये कि वह कर बढ़िया है और दूसरे करों से, जो लगाए जा सकते थे, वह अच्छा है, अधिक आय देने वाला है। यह एक कठिन कार्य जरूर है, लेकिन यह भी सत्य है कि "It is not the easy things, but the difficult things that are beautiful"।

अन्त में प्रो० सिलवरमैन के शब्दों में हम यह विचार दे सकते हैं कि राज्य को अर्थनीति निर्धारित करते समय आय और व्यय के अनुपातों को, कर-कर के लगाव को, समय और परिस्थिति के पृष्ठाधार में रखकर सोच-समझ लेना चाहिये और उसे देश की समूची आय और समूचे व्यय के बीच बढ़िया संतुलन बनाए रखना चाहिये।

सर्वाधिक सामाजिक लाभ, महाशया हिक्स के शब्दों में, उसी समय संभव हो सकता है जब राज्य "चरम उपयोगिता" (Utility Optimum) प्राप्त कर ले और उपयोगिता चरम या सर्वाधिक उसी दशा में होगी जब उत्पादन चरम या या सर्वाधिक हो सके क्योंकि चरम उपयोगिता तथा चरम उत्पादन में घनिष्ठ संबंध है। यह सिद्धान्त वास्तविक आय तथा वास्तविक उत्पादन को बढ़ाना चाहता है। यह सामाजिक स्तर तक बढ़ाए सम-सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त का पर्याय है।

"सर्वाधिक सामाजिक लाभ" का सिद्धान्त मौलिक एवं प्रधान विश्लेषण (Fundamental Analysis) के दृष्टिकोण से

यथार्थवादी एवं आदर्शवादी (Positive and Normative) दोनों भावनाओं से ओत-प्रोत है। यह यथार्थवादी इस वजह से है कि इसमें सार्वजनिक अर्थनीति के दोनों पक्षों को—हितकर और अहितकर (हितकर सार्वजनिक व्यय के कारण और अहितकर सार्वजनिक राजस्व के कारण)—सम्मिलित रूप में देखा जाता है और यह विचार किया जाता है कि अन्ततोगत्वा इससे लाभ अधिक होता है या हानि। यहाँ तस्वीर के दोनों पहलुओं को रखते हैं। यहाँ अर्थशास्त्रवेत्ता 'अच्छा' या 'बुरा' की भावना का आरोपण नहीं करता। "सिद्धान्त का अध्ययन सिद्धान्त के लिए" किया जाता है। यह सिद्धान्त आदर्शवादी इसलिये है कि यह राज्य या सरकार के सामने कुछ 'आदर्श' या 'निर्देश'—Norms—प्रस्तुत करता है और उसे उनपर आचरण करने के लिए, अमल करने के लिए परामर्श देता है, अपनी स्वीकृति देता है। यह "लाभ" अर्थात् "भलाई" की भावना को लाता है। यह सापेक्षिक भावना है। इसमें बरबस आदर्शगत भावना को लाना पड़ता है। सरकार को इस तरह से कर लगाना चाहिये, इस तरह से नहीं लगाना चाहिए, उसे ऐसा कर लगाना चाहिये, ऐसा कर नहीं लगाना चाहिए, कर-वसूली के ढंग ऐसे होने चाहिए, उसे गरीबों के मद से अधिक व्यय करना चाहिये, धनिकों के मद में कम करना चाहिये, समाज की आर्थिक विषमता को मिटाना, सबको समान सुयोग देना, आर्थिक प्रणाली की दृढ़ता को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहिए, आदि, ये ही "Norms" हैं। प्रत्येक अर्थशास्त्री इनको रखता है। सार्वजनिक अर्थनीति अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के बीच नीतिशास्त्र और मनोविज्ञानशास्त्र के अधिक निकट खड़ी है। अतएव महाशया उरशूला हिक्स के शब्दों में यह सिद्धान्त दोनों दृष्टिकोण से ओत-प्रोत है। †

---

† (राज्य के लिए कर की सीमान्त अनोपयोगिता और व्यय की सीमान्त उपयोगिता में संतुलन स्थापित करना क्रियात्मक कठिनाइयों से भरा है। इसके लिए सप्तम अध्याय पढ़िए)।—लेखक

सरकारी व्यय में बढ़ती होने के कारण

(Causes of Increase in Government Expenditure)

हम देखते हैं कि सरकारी खर्च उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इसके कितने कारण हैं। पहला कारण है कि देश का विशद प्रसार हो रहा है और उसकी आबादी भी बढ़ रही है। महान् और आकांक्षी देश दूसरे दुर्बल देशों को विजित करता है और उनके प्रबन्ध के लिए खर्च करता है। कितनी जगहें जिनमें कोई आदमी नहीं रहता था वे भी जीत ली गई हैं। इससे देशों का विस्तार बढ़ गया है और इसके साथ सार्वजनिक व्यय भी अधिक। जिन देशों की सीमाएँ नहीं बढ़ी हैं उनकी आबादी ही बढ़ गई है और अधिक लोगों के इन्तजाम के निमित्त अधिक द्रव्य खर्च किया जाने लगा है। सरकार को बड़े लोगों की इच्छाओं की पूर्ति के लिए विशेष खर्च करना पड़ता है। सरकारी काम क्रमागत उत्पत्ति ह्रासके नियम द्वारा शासित होता है और इसलिए एक बड़े देश के लिए औसतन अधिक खर्च करना पड़ता है। दूसरा कारण है कि चीजों की कीमतें पहले से अधिक हैं। बूढ़े लोग कहते हैं कि मुसलमानी राज में एक जिचल में ५ सेर घी मिलता था और एक जित्तल में २० सेर चावल। वाह रे जमाना ! यह भाव तो अब सपना हो गया ! इन दिनों तो प्रत्येक चीज के लिए बहुत ही दाम देना पड़ता है। इसलिए सरकार को जितना खर्च पहले करना पड़ता था उससे आज कई गुना अधिक खर्च करना पड़ता है। इसी वजह से सार्वजनिक व्यय बहुत बढ़ गया है। तीसरा कारण राष्ट्रीय सम्पत्ति में बढ़ती और रहन-सहन का उच्चतर प्रमाप है। देश की आर्थिक उन्नति की वजह से सरकार को अपने भिन्न-भिन्न विभागों के लिए पहले से बहुत अधिक खर्च करना पड़ता है। धनी देश की सरकार भी धनी होती है। इसलिए उसका खर्च भी अधिक होता है। चौथा कारण युद्ध का होना और उसके दूरीकरण

की कोशिश है। यह अनुभव की बात है कि युद्ध में कितना खर्च होता है। गत महायुद्ध में कोई-कोई देश प्रतिदिन करोड़ों की सम्पत्ति स्वाहा कर रहा था। वैज्ञानिकों को सहायक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करने के लिए काफी आर्थिक सहायता दी गई थी। युद्ध के खत्म होने पर भी देश उससे बचने के लिए काफी खर्च करते हैं। युद्ध के कारण सार्वजनिक व्यय बहुत ही बढ़ गया है। युद्ध का प्रभाव युद्धकाल में ही नहीं, युद्ध के बाद भी पड़ता है। पाँचवाँ कारण प्रजातंत्र का विकास है। इसीको लक्ष्य करके जर्मन अर्थ-शास्त्री वेजनर ने "Law of Increasing State Actiivty" सिद्धान्त चलाया था। प्रजातंत्र में कतिपय दलों को उत्पन्न होने और बढ़ने का मौका मिलता है। प्रत्येक दल यही चाहता है कि उसे जनता की सहायता मिले। जिस दल के लोग शासन-विभाग में रहते हैं वे अपने दल के पोषण के लिए बहुत ही पैसा सार्वजनिक अर्थात् सरकारी कोष से खर्च करते हैं। इस तरह सरकारी अर्थनीति सार्वजनिक राजनीति की दासी हो गई है। (लॉवेल) वेजनर ने बढ़ते हुए राज्य-कार्य के नियम का ठीक प्रतिपादन किया। सरकार इन दिनों नाना प्रकार के कार्यों को अपने हाथ में लेकर मोटी रकमें खर्च कर रही है। छठा कारण गलत अर्थनीति और कानूनी शासन है। किसी-किसी सरकारी शासन-मंडली में एक ही काम के लिए दो-दो आदमी रख लिए गये हैं। इन्हीं छव प्रधान कारणों से सरकारी बजट पहले से बढ़ गया है।

सरकारी (सार्वजनिक) व्यय में उत्तरोत्तर वृद्धि होने के उक्त कथित प्रमुख कारण हैं। द्वितीय महायुद्ध ने इस क्षेत्र में यथेष्ट प्रभाव डाला है। उसने दकियानूसी सिद्धान्तों को झकझोर-सा दिया है। अब अर्थनीतिज्ञ परम्परामुक्त वसूलों—पुरानी लकीर के फकीर—का अक्षरशः पालन नहीं करते और सार्वजनिक आय-व्यय के नियमन और प्रबन्धन करते समय नियंत्रण की पुरानी लीक को नहीं पीटते। महँगी भी दिनानुदिन बढ़ती ही गई है। अधिस्फीति के भयावह

उफान से सरकार को गैर-अधिस्फीति नीति (Disinflationary Policy) को अपनाना पड़ा है और इसका एक तीखा असर भी पड़ा है। वह यह है कि सार्वजनिक प्रसाधनों के व्यय में सम-सीमान्त मान्यताओं का जो निर्धारक (criterion) था वह ढीला पड़ गया है। कई राष्ट्रों को आशंका है कि एक भयंकर सस्ती (slump) निकट भविष्य में पैदा होनेवाली है और इसके हेतु पहले से ही सतर्क रहना चाहिये और अभी उसके कीटाणुओं को नष्ट करने के लिये उन्हें वर्द्धमान सार्वजनिक व्यय का D. D. T. छोड़ना चाहिये !

सभी देश प्रगति के पथ पर पग बढ़ाते जा रहे हैं। आर्थिक प्रणाली अपने को प्रस्फुटित करती जा रही है। यह गुलाब खूब खिले, वह चित्र खूब मोहक बने, इसी ध्येय से लोग अधिकाधिक व्यय करने की उधेड़-बुन में हैं। लोगों के दिल में यह बात घर कर गई है कि सार्वजनिक अर्थनीति योजनाकरण की सहचरी है और उसका काम योजनाओं का उन्नयन करना होना चाहिये।

इतना ही नहीं, आज की सरकार के कई ऐसे विभाग हैं जो वाणिज्य-विषयक कार्य भी करने लगे हैं। लार्ड केन्स के शब्दों में यह अभिनव व्यापारवाद का युग है। सरकार भी बनिया बन गई है। वह भी कई उद्योग-धंधे चलाती, पुस्तकों का प्रकाशन करती और वस्तुओं तथा पुस्तकों की खरीद-बिक्री करती है। इस क्षेत्र में उसे पहले से अधिक व्यय करना पड़ता है। अब राज्य को अयोग्य उत्पादक नहीं माना जाता है अब लोग यह स्वीकार कर रहे हैं कि राज्य में भी उतनी ही प्रेरणा और जोश है जितनी प्रेरणा और जोश व्यक्तिगत उद्योग-धंधों में हम पाते हैं। दिनोंदिन उद्योग-धंधे अधिकाधिक सरकार के हाथों में जा रहे हैं और सरकार उनका खुद संचालन कर रही है। इससे भी सार्वजनिक व्यय बढ़ चलता है। सार्वजनिक व्यय इसलिए भी बढ़ रहा है कि अब सेलीगमैन के शब्दों में लोग महसूस कर रहे हैं कि

मनुष्य की इच्छाओं को दो खंडों में विभाजित किया जा सकता है—(१) वैयक्तिक या पृथक इच्छाएँ (२) उभयनिष्ठ इच्छाएँ। दूसरे खंड की इच्छाएँ दलीय या समूहगत संगठनों और कार्यों से संतुष्ट होती हैं और इसलिए राज्य के अधिकाधिक भाग की गुंजाइश है। "Fiscal sceince is a social discipline Fiscal. wants are common wants."। तब का पुलिस-राज्य अब खानगी व्यावसायिक दुनिया का धूमकेतु (comet) बन गया है।

यदि आज की सरकार सार्वजनिक कार्यों से उदासीन या तटस्थ रहे तो यह ग्लानिजनक होगा, हेय होगा। इसलिये सरकार को डटकर, तत्पर होकर काम करना पड़ता है। अब "त्याग का सिद्धांत" "लाभ के सिद्धांत" का प्रतियोगी (Foil) बन गया है।

आज की सरकार को कल्याणकर्त्री सरकार—Welfare State—या राज्य के रूप में देखा जाता है। सरकार का काम सान्ता कलौज के काम-सा नहीं है। सान्ता कलौज एक ग्रीक पुराण में कल्पित वृद्ध एवं उदार देवदूत है जो बड़े दिनों में रात्रि-काल में बच्चों के जूते और मोजे में मिठाइयाँ और आकर्षक पारितोषिक चुप-चाप रख छोड़ता है। सरकार इस प्रकार के निःस्वार्थ कार्य नहीं कर सकती। उसे तो अपनी प्रजाओं से अपनी सेवाओं के खर्च के बराबर कर ले लेना है और तब उसे व्यय भी करना है, भले ही वह किसी से कम कर ले और उसकी अधिक सेवा करे तथा किसी से अधिक कर ले और उसकी कम सेवा करे।

पूँजीवाद की तथा-कथित दाम की प्रणाली अपना काम ठीक से नहीं कर रही है। सरकार के कोष में मुद्रा एवं साख की राशि उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। व्यापार-चक्र रह-रहकर आता रहता है। बेकारी का दानव समाज को कष्ट देता रहता है। अतएव सरकार को इनका प्रतिकार करना है।

आधुनिक सरकार को वैयक्तिक कल्याण तथा सामाजिक कल्याण

के संघर्ष को मिटाना है, उन दोनों के बीच में जो खाई जगह-जगह पैदा हो गई है उसको पाट देना है।

फिर भी सार्वजनिक व्यय की नीति को सार्वजनिक कर-नीति के साथ कार्यान्वित किया जाता है। दोनों नीतियों में तारतम्य रखा जाता है। इस बात का ख्याल रखा जाता है कि सार्वजनिक व्यय अपना रास्ता खुद निकाल लेता है।

आर्थिक भलाई को अब दो दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है—वैयक्तिक आर्थिक भलाई और सामाजिक आर्थिक भलाई। पूँजीवादी या मुक्त अर्थ-प्रणाली में इन दोनों में काफी संघर्ष देखा जाता है। कहीं वैयक्तिक भलाई सामाजिक भलाई से अधिक है और कहीं वह सामाजिक भलाई से कम। सरकार का कर्त्तव्य है कि इस संघर्ष को उन्मूलित करे और व्यक्तिगत एवं सामाजिक भलाइयों में साम्य स्थापित करे। मिलों का सटे-सटे होना, उनसे धुँआ निकलकर वायुमंडल को दूषित कर देना और लोगों को उसे इस तरह से सूँघने के लिये बाध्य होना कि उनकी नाकों से शूट (Shoot) भी निकले, शक्कर की मिलों के इर्द-गिर्द में सड़े छोआ की बू, किसानों के लहलहाते खेतों में ठाकुरों के जानवरों का घुड़दौड़ करना, व्यक्तियों द्वारा पाले गये खरगोशों का आस-पास के खेतों में घुसकर फसल चट कर जाना, गर्भवती मजदूरिनों से काम लेना, आदि उन अवस्थाओं की ओर इंगित करते हैं जिनमें सामाजिक हित से अधिक वैयक्तिक हित ही है। सरकार को वैयक्तिक हित को घटाकर सामाजिक हित को बढ़ाने के लिए कोशिश करनी चाहिए। जब समाजगत हित और वैयक्तिक हित प्रत्येक क्षेत्र में समान होते हैं तब सम्पूर्ण हित अधिकतम होता है। व्यक्तिगत दरवाजे पर प्रकाश-स्तम्भों के रहने से पथिकों को भी फायदा होता है लेकिन उसके बदले में उन्हें कुछ भी देना नहीं पड़ता। युवतियाँ नीली-पीली साड़ियाँ पहने अपने अलक-

जाल को पुष्पमालाओं से सजाए सेन्ट से हवा को सुगन्धित करती हुई समाज का कल्याण करती हैं। मन्दिर में धूप-दान होता, हवन जलता है, आस-पास की वायु विशुद्ध हो जाती है। इन अवस्थाओं में सामाजिक हित वैयक्तिक हित से ज्यादा होता है। समाज व्यक्ति के मत्थे फलता-फूलता है। क्या समाज को ऐसे व्यक्तियों को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए? क्या उसे इनको कुछ देना नहीं चाहिए? आर्थिक भलाई के वास्तविक अध्ययन का एक प्रधान अंश यही है। जिस तरह व्यक्ति मूल्य और उपयोगिता के संतुलन की चेष्टा करता है उसी तरह सरकार को वैयक्तिक भलाई और सामाजिक भलाई के संतुलन की चेष्टा करनी चाहिए।

सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण

(Classification of Public Expenditure)

सार्वजनिक खर्च के वर्गीकरण के सम्बन्ध में लोगों की एक राय नहीं है। पहला वर्गीकरण राष्ट्रीय और स्थानीय व्ययों में किया गया है। वे काम जो राज्य द्वारा अपनाये जाते हैं और उनपर खर्च किया जाता है रक्षा, न्याय और कानून का शासन, आदि हैं। वे व्यय जो स्थानीय सरकारों द्वारा किये जाते हैं, स्थानीय व्यय कहे जाते हैं और उनमें जल का प्रबन्ध, प्रकाश का प्रबन्ध, आदि हैं। फेडरल या संघीय राज्य में संघीय व्यय और राजकीय व्यय में विभेद किया जाता है। जिन व्ययों का सम्बन्ध सभी राज्यों से होता है वे प्रधानतया राष्ट्रीय रक्षा, डाक और तार विभाग, केन्द्रीय शासन, कूटनीति के कार्य हैं। वे व्यय जो व्यक्तिगत राज्य से सम्बन्धित रहते हैं पुलिस, शिक्षा, जेल, आदि कार्यों पर किये जाते हैं। वास्तव में शिक्षा, सड़कों की देख-रेख, जैसे कार्य स्थानीय और राष्ट्रीय दोनों हैं।

कोहन के अनुसार सार्वजनिक व्यय के वर्गीकरण का आधार

लाभ की मात्रा है। एक प्रकार के व्यय से सभी नागरिकों का समान लाभ होता है जैसे रक्षा, सामान्य शासन, सड़कें, आदि पर का व्यय। दूसरे प्रकार के व्यय वे हैं जिनसे खास-खास वर्गों का विशेष लाभ होता है जैसे दरिद्रों के सुख के लिये व्यय करना, पेंशन देना। तीसरे प्रकार के व्यय वे हैं जिनसे कुछ लोगों का विशेष और सर्वसाधारण का सामान्य लाभ होता है। उदाहरण के लिये न्याय का शासन और उसपर खर्च किया गया ऐसा ही व्यय है। चौथे प्रकार के व्यय वे हैं जिनसे व्यक्तियों का विसेष लाभ होता है। उदाहरण के लिये, सर्वसाधारण के उद्योगों पर जो खर्च किया जाता है वह चौथे प्रकार का होता है।

डाल्टन महोदय ने सार्वजनिक व्ययों का वर्गीकरण दो प्रकार से किया है। एक प्रकार के व्यय वे हैं जिनसे सामाजिक जीवन की रक्षा होती है। दूसरे प्रकार के व्यय वे हैं जो सामाजिक जीवन के गुण को बढ़ाते हैं। इस वर्गीकरण से भी व्ययों का भेद ठीक तरह से स्पष्ट नहीं होता है।

व्ययों का एक वर्गीकरण उत्पादक और अनुत्पादक व्यय के रूप में होता है। परन्तु उत्पादकता का निर्णायक क्या है? मुनाफा को उत्पादकता का लक्षण नहीं कह सकते हैं। यदि किसी राजकीय खर्च से राष्ट्र के प्राकृतिक या मानवीय उपादान विकसित होते हैं या उनसे इन उपादानों के आर्थिक प्रयोग बढ़ते हैं तो वे जरूर ही, उत्पादक हैं।

सार्वजनिक व्ययों का वर्गीकरण कार्यों के अनुसार होता है। इस रूप में संरक्षा, आर्थिक और वाणिज्य तीन दृष्टियों से सरकारी व्यय बाँटे जा सकते हैं। राज्य द्वारा किये गये व्यय से यदि बराबर ही लाभ पहुँचता है अथवा उसके बदले Quid pro quo प्राप्त होता

है तो उसे क्रय-दाम कहते हैं। यदि राज्य द्वारा किये खर्च से कोई आमदनी नहीं होती तब ऐसे खर्च को अनुदान (grant) कहते हैं। प्रान्तों में निःशुल्क शिक्षा की संस्थाओं और दातव्य औषधालयों की स्थापना अधिक प्रधान है।

तृतीय अध्याय

सार्वजनिक व्यय

(Public Expenditure)

सार्वजनिक व्यय के कुछ सिद्धान्त

(Some Canons of Public Expenditure)

हम डा० शीराज को सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्तों का प्रवर्तन करने का श्रेय देते हैं। आगे कर लगाने के नियमों का वर्णन होगा।

(१) हित का सिद्धान्त

(Canon of Welfare)

सभी सार्वजनिक व्यय को सर्वाधिक सामाजिक लाभ के सिद्धांत की पूर्ति करना चाहिए। प्रत्येक ऐसा जन-कल्याण को बढ़ानेवाला हो। सार्वजनिक कोष को केवल समाज के किसी एक दल या खंड की भलाई में खर्च नहीं करना चाहिए। सरकार का ध्येय सामान्य कल्याण होना चाहिए, क्योंकि सरकार प्रत्येक व्यक्ति की भलाई के लिए रहती है।

(२) किफायतशारी का सिद्धान्त

(Canon of Economy)

किफायतशारी का मतलब यह है कि सभी फिजूल खर्च और नुकसान से बचा जाय। उसका मतलब कंजूसी नहीं है। सार्वजनिक व्यय से जनता का पूरा भला हो सकता है। यदि उसका ठीक उपयोग नहीं हो तो वह नुकसान भी कर सकता है। कोलरीज ने लिखा है कि सूर्य नदी, झील और समुद्र से वाष्प लेकर वाटिका, मैदान और खेतों में उसे बरसा सकता है परन्तु यह भी संभव है कि

वर्षा गढ, थार मरुभूमि में ही हो जाय। यदि सरकार बिना ध्यान से रुपया खर्च करने लगे तो उसका नतीजा भी बुरा होगा। किफायतशारी के लिए दुबारा खर्च नहीं होना चाहिए। उससे बचत पर भी कुप्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।

(३) मंजूरी का सिद्धान्त

(Canon of Sanction)

सरकारी खर्च होने के पहले विद्वान् और दक्ष लोगों की सम्मति लेनी चाहिए। बिना ठीक सलाह और मंजूरी के खर्च करने से फिजूल खर्च और नाश हो सकता है। प्रत्येक देश में यह विधान है कि किसी रकम के खर्च होने के पहले मंजूरी ले लेना जरूरी है। सार्वजनिक व्यय में निरीक्षण और पर्यवेक्षण जरूरी है। रजिस्ट्रों की देख-भाल के लिए ऑडिटर रखना चाहिए।

(४) बचत का सिद्धान्त

(Canon of Surplus)

सरकार का बजट नपा-तुला होना चाहिए। सरकार को हर साल बचत नहीं करनी चाहिए। उसे घाटा भी नहीं उठाना चाहिए क्योंकि घाटे की पूर्ति करने के लिए सरकार को नया कर लेना पड़ेगा, कर्ज, आदि वसूल करना होगा। यह बुरा होगा। आर्थिक स्थिरता कायम रखने के लिए बजट संतुलित होना चाहिए।

५. लोच का सिद्धान्त

(Canon of Elasticity)

सार्वजनिक व्यय को लोचपूर्ण होना चाहिए। स्थितियों के अनुसार उसे बदलता रहना भी चाहिए। खराब दिनों में बजट को कम किया जाय। परंतु बजट की रकम घटाने से बड़ी गड़बड़ी फैलती है। सरकार को उन व्ययों को छोड़ देना चाहिए जिससे उसे घटी है।

६. उत्पादन या वितरण पर बुरा प्रभाव नहीं पड़े

(No unwholesome effect on Production or Distribution)

सार्वजनिक व्यय का प्रभाव उत्पादन और वितरण पर स्वस्थ

होना चाहिए। उससे लोगों का रहन-सहन बढ़ना चाहिए। इसके लिए सम्पत्ति का न्यायपूर्ण विभाजन उचित है। यदि नवोत्पन्न सम्पत्ति से धनियों की ही सम्पत्ति बढ़ती है तो सार्वजनिक व्यय का प्रभाव ठीक नहीं। सार्वजनिक व्यय से तो समाजगत आय की विषमताओं को कम होना चाहिए।

सार्वजनिक व्यय का उत्पादन पर प्रभाव

(Effects of Public Expenditure on Production)

सार्वजनिक अर्थनीति के अध्ययन में सार्वजनिक व्यय का वही स्थान है जो अर्थशास्त्र के अध्ययन में उपभोग या खपत का है। जिस तरह सभी आर्थिक प्रयासों का चरम लक्ष्य उपभोग है उसी तरह राज्य के सभी आर्थिक प्रयासों का चरम लक्ष्य सार्वजनिक व्यय है। सार्वजनिक व्यय समाज की भलाई करने के लिये किया जाता है। पूँजीवादी समाज में आत्म-स्वार्थ की भावना से समाज की भलाई असंभव है। इसलिये सरकार को आय-व्यय की व्यवस्था करनी पड़ती है। चाहे जो कुछ भी हो, सुख और सम्पत्ति में सम्बन्ध जरूर है। सम्पत्ति के ऊपर सुख निर्भर करता है। इसलिये सरकार को सम्पत्ति का उत्पादन और वितरण करना पड़ता है।

सार्वजनिक व्यय के दो भेद प्रो० पीगू ने किये हैं—वास्तविक (Exhaustible or Real) व्यय और हस्तान्तर (Transfer) व्यय। वास्तविक या खत्म होने वाला व्यय वह है जो सरकार व्यक्तिगत भोक्ताओं के ऐसा करती है और जो एक बार में खर्च हो जाता है—जैसे सिविल शासन, सुरक्षा, विदेशियों को दिया गया ऋण—इन भेदों में जो खर्च होते हैं वे समापनीय व्यय के दृष्टान्त हैं। हस्तान्तर व्यय वह है जिससे क्रय-शक्ति समाज के एक वर्ग और दूसरे वर्ग के बीच हस्तान्तरित होती है। इसके उदाहरण हैं—

सार्वजनिक ऋणों पर दिये सूद, बूढ़ों को दिये पेंशन, बेकारी के समय दी हुई आर्थिक सहायताएँ, आदि ।

कुछ लोगों की धारणा है कि राजकीय अर्थात् सार्वजनिक व्यय से राष्ट्रीय उत्पादन को कोई लाभ नहीं पहुंचता है। व्यय का प्रभाव ठीक विपरीत ही पड़ता है। सार्वजनिक व्यय पर जो मुद्रा लगती है वह राष्ट्रीय आमदनी से आती है जो जातिगत सम्पूर्ण उत्पादन शक्ति का केन्द्र है। यह गलत विचार है। सरकारी खर्च एक तरह से समाज के धनी-वर्ग से दरिद्र-वर्ग के हाथों में सम्पत्ति हस्तान्तरित करने का एक प्रधान साधन है। सरकार दरिद्रता निवारण के मद में खर्च करती है। वह बुढ़ापे में लोगों को पेंशन देती है। सरकार शिक्षा और स्वास्थ्य के लिये पूरा खर्च करती है। इससे लोगों की निपुणता बढ़ जाती है। वह रेल लाइनें निकलवाती है और डाक-तार-विभाग की स्थापना करती है। साधारण जनता इनके लिये काफी सम्पत्ति नहीं खर्च कर सकती है। सरकार के द्वारा खर्च होने से लोगों की सम्पत्ति-उपार्जन की शक्ति बढ़ जाती है।

सरकारी व्यय का एक दूसरा भी भेद होता है जो वास्तव में अनुत्पादक होता है। युद्ध पर या युद्ध की तैयारी के लिये जो खर्च किया जाता है वह ऐसा ही खर्च है। इसमें लाखों की सम्पत्ति लगाई जाती है। उत्पादक कामों से हटाकर लोगों को सेनाओं में लगाया जाता है। कोयला, तेल, रबर-जैसी चीजें युद्ध में नष्ट हो जाती हैं। इस तरह युद्ध के लिये जो खर्च सरकार करती है वह अनुचित है।

देश की रक्षा के लिये सेना को रखना बुरा नहीं है। सेना रहने से समाज का आर्थिक जीवन नियमित रहता है। युद्ध में देश के विजयी होने पर खर्च से अधिक लाभ होता है। उसे बहुत-सी आर्थिक सुविधाएँ मिलती हैं। सेना रहने से देश पर कोई विदेशी आक्रमण नहीं हो सकता है। इस तरह उचित सेना-सम्बन्धी खर्च अप्रत्यक्ष रूप से उत्पादक है।

यदि सरकारी खर्च का प्रभाव जनता के काम करने और बचाने की योग्यता पर देखा जाय तो मालूम होगा कि इससे योग्यता बढ़ती ही है। सरकार बहुत खर्च नवयुवकों की उन्नति के लिये करती है। वह शिक्षा का इन्तजाम करती है। मजदूरों के रहने के लिये घरों का प्रबन्ध करती है। उनके जीवन-निर्वाह को कम खर्चीला बनाती है। इन सभी उद्योगों से जनता की उत्पादक निपुणता बढ़ती है। सरकार आवागमन और यातायात के साधनों, वैज्ञानिक और औद्योगिक अन्वेषणों, सामाजिक सुरक्षा, आदि के विकास के लिये मुक्तहस्त से खर्च करके देश का काम करने और बचाने की शक्ति बढ़ा देती है। वह उद्योगों को आर्थिक सहायता भी देती है। सबसिडी* और बाउन्टी† से बहुत फायदा होता है। यह प्रत्यक्ष सहायता है। सरकार अप्रत्यक्ष सहायता भी देती है। जान-माल की सुरक्षा का सुप्रबन्ध करके, शासन और व्यवस्था स्थापित कर, बाह्य आक्रमण की आशंका से विमुक्त कर सरकार परोक्ष सहायता भी करती है। इस प्रकार की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहायताओं से उत्पादन के विकास में काफी मदद मिलती है।

काम करने और बचाने की इच्छा के ऊपर सरकारी व्यय का प्रभाव अच्छा पड़ता है या बुरा संदिग्ध है। यदि बुढ़ापे में मजदूरों को पेंशन मिलने की आशा रहती है तो उनकी बचाने की शक्ति कम हो जाती है। हाँ, यदि मदद आपदाओं के समय मिले, बीमारी की अवस्था में मिले तो काम करने और द्रव्य संचय की इच्छा कम नहीं हो सकती है। यदि काम करने की शक्ति बढ़ने के साथ मदद बढ़ाई जाने लगे तो काम करने की इच्छा जरूर बढ़ जाएगी। अतः कार्य और संचय की इच्छा की वृद्धि या ह्रास सरकार की नीति पर निर्भर है। डाल्टन महोदय का कथन है कि सरकारी व्यय से होने वाले लाभ और हानि की परस्पर तुलना करने से यही जान पड़ता है कि उत्पादन में कुछ अवरोध अवश्य उत्पन्न हो जाता है। पूँजी-

---

* आर्थिक सहायता † आर्थिक प्रोत्साहन

संग्रह की इच्छा और सामर्थ्य में वृद्धि उसी हालत में संभव है जब अर्जित आय में से कुछ बचत होने की गुंजाइश हो।

सरकारी व्यय के कारण अनेकों स्थानों और कार्यों में आर्थिक उपादानों को लगाया जाता है। यदि आर्थिक उपादानों को कुछ स्थानों और कार्यों में लगाने से भावी उत्पादकता बढ़ जाय तो वह ग्राह्य है। यही सर्व-सम्मत नियम है। इसकी अवहेलना से ही सरकार बहुत व्यर्थ खर्च करती है। युद्ध पर जो खर्च होता है वह इसीका ज्वलन्त दृष्टान्त है। जब सरकार नियम का सदुपयोग करती है तब वह आर्थिक सहायता देकर नये और उपादेय उद्योगों का निर्माण करती है। सरकार अवनत भागों के उत्थान में काफी पैसा खर्च करती है। इससे देश का सम्पूर्ण उत्पादन बढ़ जाता है। इस तरह देश की सम्पत्ति भी उत्तरोत्तर अधिक हो जाती है। सरकार जो आर्थिक सहायता अवनत स्थानों को देती है उसे Grants-in-aid कहते हैं। "The central problem of public finance is no less, and no more, than the problem of securing the best disposal of the economic resources of the community in so far as public anthorities can influence this disposal" (Dalton)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सरकारी व्यय का प्रभाव उत्पादन पर अवश्यमेव पड़ता है। यह तीन स्रोतों से काम करता है—(१) उत्पादन की बनावट में परिवर्तन करके (२) उत्पादन के परिमाण में सुधार करके (३) अभावपूर्ण किंवा बहुमूल्य साधनों का वितरण, खास भूभागों तथा उद्योगों में सम्पन्न करके।

सार्वजनिक व्यय से काम करने और धन जमा करने की योग्यता में वृद्धि होती है। इससे वर्तमान पीढ़ी की निपुणता बढ़ती है और भावी पीढ़ी भी अधिक दक्ष बनती है। कारखानों की देख-भाल

करने के लिए इन्सपेक्टर बहाल किए जाते हैं। अवकाश के घंटे में जलपान की व्यवस्था की जाती है। इसे Grants-in-Kind कहते हैं। पेन्शन, आदि का इन्तजाम होता है। इसे Grants-in-Cash कहते हैं। साथ ही काम करने और धन बचाने की इच्छा में भी उन्नति होती है। कई देशों में सरकार की ओर से जो जितना ही अधिक पैसा बचावे उसे उतना ही अधिक बाउन्टी दी जाती है। Profit-sharing और Bonus के तरीकों से भी इस कार्य में प्रचुर सहायता मिली है।

सार्वजनिक व्यय से रोजी की स्थिरता बढ़ती है। मुक्त प्रणाली में व्यापार-चक्रों के कारण और गहरी गरीबी के कारण लोग जब-तब बेकार हो जाते हैं; लेकिन इसकी पूँजीपतियों और उद्योगपतियों को कोई फिक्र नहीं होती। मगर आज की सरकार को तो बड़ी फिक्र रहती है। वह बेकार रखकर इन व्यक्तियों को भूखों नहीं मार सकती। बड़ी भयानक क्रान्ति हो जा सकती है तब! सरकार हतोत्साह उद्योगों को आर्थिक मदद करके ज्यादा लोगों को काम में लगाए रखने की चेष्टा करती है। सार्वजनिक कार्यों की नीति (Publio Works Policy) के द्वारा सरकार स्वयं नए-नए कार्यों को शुरू करके उनमें लोगों को लगाती है। वह ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहित करती रहती है जो गरीबों के काम में आनेवाली वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। मनुष्य समाज की एक बहुमूल्य पूँजी है। उसकी रक्षा और संवर्द्धन करना सरकार का परम कर्त्तव्य है।

सर्वप्रथम कर लगाने की बात लीजिये। केन्स के पहले तक तो अर्थशास्त्र-वेत्ताओं की यह भ्रान्ति थी कि पूर्ण रोजी की उपलब्धि के लिये यदि सरकार धनिकों पर अधिकाधिक कर लगावेगी तो इन लोगों की संग्रहात्मक शक्ति न्यून हो जायगी जिससे समाज की न तो पूँजी विकसित हो सकेगी और न उनकी आय ही बढ़ सकेगी। केन्स ने साबित करके बतलाया कि यह कथन निर्मूल है। पूँजी

का विकास जब तक पूर्ण रोजी की उपलब्धि नहीं हो जाती, अधिक संग्रहात्मक वृत्ति पर निर्भर नहीं करता, प्रत्युत् वह न्यून खपत की वजह से रुकता है। बेकारी की हालत में तो जितना ही अधिक खपत पर व्यय किया जायगा और जितना ही अधिक पूँजी-योग होगा, उतना ही अधिक पूँजी का विकास होगा। आज की दुनिया में पूँजीपतियों और जमींदारों के पास काफी धन जमा है। यदि यह धन खपत और पूँजी-योग की अभिवृद्धि के लिए खर्च किया जाय तो एक ओर तो पूँजी का विकास होगा तथा दूसरी ओर समाज की बेकारी दूर होगी। वर्तमान आर्थिक विषमता अनुचित है और उसके लिये इन साधनों को अपनाना अनिवार्य प्रतीत होता है। जहाँ तक भारतवर्ष का सवाल है हम निस्संकोच ढंग से कह सकते हैं कि यहाँ धनिकों पर जो कर लगाये गये हैं वे दूसरे देशों में—बरतानिया को ही लीजिये—लगाये करों की अपेक्षा बहुत कम हैं। यहाँ आय-कर की दर ही कम नहीं, बल्कि विलास की सामग्रियों पर जो चुंगी या कर लगाया गया है, उसकी दर भी कम है। हाँ, हाल में मृत्यु-कर अर्थात् रियासती-कर लगाने का कानून स्वीकृत कर सरकार ने प्रगतिशील पथ में एक कदम और बढ़ा लिया है। फिर भी यह लिखना ही पड़ता है कि सरकार ने परोक्ष करों की दर तथा सार्वजनिक कार्यों के उपयोग के बदले दिये जानेवाले मूल्यों की दर इतनी अधिक कर रक्खी है कि उनसे गरीबों पर अधिक बोझ पड़ गया है। इसलिये सरकार को अपनी कर-नीति में स्वस्थ परिवर्तन करना चाहिये। आजकल भारतीय मुद्रा-बाजार की हालत संतोषजनक नहीं। पूँजीपति सरकार के ऋण-पत्र नहीं खरीद रहे हैं। सरकार को सम्मिश्रित साधन द्वारा एक ओर सूद की दर बढ़ाकर पूँजी-पतियों को प्रोत्साहित करना होगा, तो दूसरी ओर उनकी उदासीनता पर समाजवादी ढंग से कशाघात करना पड़ेगा, क्योंकि सरकार हमेशा उनकी इच्छा पूरी नहीं कर सकती, वह बराबर उनके आगे झुकती नहीं रहेगी।

पूँजी-योग पूँजीपतियों और व्यवसायियों द्वारा भी होता है और सरकार द्वारा भी। अतएव सरकार को प्रथम कोटि के पूँजी-योग को प्रोत्साहित तो करना होगा, दूसरी कोटि के पूँजी-योग को भी अपनाना होगा। सरकार को सामूहिक खपत पर के व्यय को उत्प्रेरित करना है। इसके लिये उसे "घाटे के पत्रक" (Deficit Budget) का प्रश्रय ग्रहण करना होगा। अर्थशास्त्र-वेत्ताओं के अनुसार "अवशेष पत्रक" नीति से समाज की आय और रोजी घटती है, संतुलित पत्रक से जिसे sound या orthodox finance की पद्धति कहते हैं, वे स्थिर होती हैं तथा घाटा के पत्रक की नीति से वे उन्मुख और अभिवृद्ध होती हैं। आखिर सरकार किस तरह अपनी आय खर्च करे! सरकार आय को दो प्रकार से खर्च कर सकती है। एक तो वह सार्वजनिक कार्यों को अपना सकती है। इसके मुताबिक वह मार्ग, औषधालय, स्कूल, आदि बनवा सकती है। दूसरे, वह खपत की वृद्धि के लिये आर्थिक सहायताएँ दे सकती है। इसके अनुसार वह मजदूरों को परिवार की दृष्टि से आर्थिक मदद दे सकती है। अथवा उन उद्योग-धंधों को जो आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिनकी माँग दरिद्रवर्ग द्वारा बहुत होती है, परन्तु जो ह्रासमान हैं उन्हें ऐसी आर्थिक मदद देकर पन-पाने का सफल प्रयास कर सकती है। इसके अतिरिक्त वह अपनी आय राष्ट्रीय उद्योग-धंधों की स्थापना और परिचालन में खर्च कर सकती है। परन्तु इस प्रकार के व्यय से समाज की आर्थिक विषमता बहुत कम अंश में दूर हो सकेगी। आर्थिक विषमता का न्यूनीकरण उस हालत में होगा जब सरकार धनिकों से अधिकाधिक कर वसूल करे तथा उनके द्वारा खरीदी जानेवाली विलास, आदि की वस्तुओं पर अधिकाधिक कर लगावे। इससे उनकी संग्रहात्मक वृत्ति घटेगी और समाज की कुल खपत पर व्यय करनेवाली वृत्ति बढ़ेगी। कार्ल मार्क्स ने भी पूँजीवादी प्रणाली के विनाश का एक कारण सर्व द्वारा की खपत-शक्ति की अपर्याप्तता और फलतः अत्युत्पादन का अस्तित्व

बतलाया है। केन्स भी इसी तथ्य को अपने शब्दों में व्यक्त करते हैं। धनिक लोग ऐसे साधन का विरोध करेंगे। सरकार को अपनी स्थिति के अनुकूल एक साधन पर अधिक जोर तो दूसरे पर कम जोर देना होगा और दोनों साधनों का यथासंभव सम्मिश्रण करना ही उचित होगा। इससे सामाजिक न्याय भी होगा और पूरी रोजी भी प्राप्त हो सकेगी।

अतः हमारा निष्कर्ष है कि सरकारी व्यय का उत्पादन पर अच्छा ही असर पड़ता है। उत्पादन का विकास होता है। फिर भी उसे सीमा के भीतर ही रहना चाहिए। सीमा का अतिक्रमण करने से देश की उत्पादन शक्ति बढ़ने के बजाय घटती ही है। सार्वजनिक व्यय भी "क्रमागत् उत्पत्ति ह्रास" के नियम की सार्वभौमता के अन्तर्गत ही है और उसमें एक सीमा के बाद व्यय होने से लाभ के बदले नुकसान ही होता है।

गत कुछ वर्षों से कोई-कोई सरकार व्यक्तिगत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके खुद उनका प्रबन्ध करने लगी है। इसलिए अब उसके सामने दो मार्ग हैं:-(१) व्यक्तिगत उद्योगों को आर्थिक सहायता (Subsidy) दी जाय (२) उनमें से प्रमुख उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर लिया जाय। दूसरा मार्ग उस दशा में चुनने लायक होगा जब कर लगाकर और सार्वजनिक ऋण लेकर ही इसे सम्पादित किया जा सके। Sinking Funds,† Dead weight debts,† आदि को वापस करने के लिए जो सरकारी खर्च होता है वह भी अच्छा ही है।

जब समाज की सम्पूर्ण रोजी स्थिर हो जाती है तब उसका संपूर्ण उत्पादन भी बढ़ जाता है। सरकार भी काफी रोजी देती है। लोग भी रोजी देते हैं। लेकिन महँगी में लोग अधिक नफा कमाते और अधिक रोजी देते हैं। सस्ती में उन्हें कम नफा होता है और वे कम रोजी देते हैं। यदि उन्हें ऐसा करने दिया जाय तो कितने लोग

† ऋण-परिशोध कोष   † मृतक भार ऋण

बेरोजी के तबाह हो जायेंगे। इसलिए सरकार महँगी में खुद कम रोजी देकर 'संतुलन' बनाए रखती है और सस्ती में वह अधिक रोजी देकर ऐसा करती है। यह तो हुआ कालगत रोजी को स्थिरता। सरकार विभिन्न कार्यों में की रोजी की मात्रा को भी स्थिर बनाए रखती है और वह ऐसा अपनी आर्थिक तथा कर नीति (Financial-cum-Fiscal Policy) के द्वारा करती है।

इस तरह मानव-सम्पत्ति नष्ट होने से बच जाती है। हम "आधुनिक अर्थशास्त्र" में "मजदूरी" के प्रसंग में इस विषय पर काफी प्रकाश डाल चुके हैं और हम उसकी आवृत्ति करना नहीं चाहते।

सार्वजनिक व्यय का वितरण पर प्रभाव
(Effects of Public Expenditure on Distribution)

सार्वजनिक व्यय समाज में सम्पत्ति के वितरण पर बहुत ही अच्छा प्रभाव डालता है। इसके द्वारा आमदनियों की विषमताओं को दूर किया जा सकता है। सरकारी व्यय से धनी की अपेक्षा गरीबों की ही अधिक भलाई होती है। धनी व्यक्ति तो अपने धन से अपनी सन्तानों की सेवा, दवा-दारू करा सकता है, परन्तु गरीब आदमी ऐसा नहीं कर सकता है। इसलिए सरकारी प्रबन्ध से उसे अधिक लाभ पहुँचता है। सरकार के व्यय कुछ ऐसे होते हैं जिनसे सभी जनता का हित होता है और कुछ व्यय ऐसे होते हैं जिनसे समाज के कुछ ही लोगों की भलाई होती है।

सरकार कर लगाकर धनिकों से रुपया-पैसा लेती है और गरीबों के हित में कुछ खर्च करती है, बुढ़ापे में पेंशन देती है, बेकारी के समय बेकार लोगों की मदद करती है। इस तरह दरिद्रों के हाथों में सम्पत्ति चली जाती है। सम्पत्ति का ऐसा हस्तान्तर अप्रत्यक्ष होता है। उन्नत देशों में गरीब के लड़के मुफ्त पढ़ते और भोजन पाते हैं। सरकार इसका इन्तजाम करती है। धनी के लड़कों को शुल्क देना

पड़ता है और उन्हें सभी खर्चों को अपने पास से चुकाना पड़ता है। इस तरह समाज में आर्थिक विषमता कम होती है और कुछ आमदनी बढ़ती है।

सरकार के कुछ व्ययों से सभी व्यक्तियों को लाभ पहुँचता है और सम्पत्ति का वितरण भी उससे प्रभावित होता है। अच्छी सड़कों, स्वतंत्र रूप से जलोपलब्धि का प्रबन्ध, पार्क—इनसे सार्वजनिक लाभ होता है। इनके प्रभावों को व्यक्तिगत रूप से विचार करना मुश्किल है।

सार्वजनिक व्यय द्वारा सम्पत्ति का पुनर्वितरण करना इसीलिए कुछ क्षतिकारक जान पड़ता है कि कर देनेवाले बचत करना कम कर सकते हैं और जिन्हें इस व्यय से लाभ पहुँचता है वे भी ऐसा कर सकते हैं। बचत कम होने से आगे व्यय के लिए कम रकम मिलेगी।

अतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस तरह कर आनुपातिक, प्रगतिशील और रिग्रेसिभ या प्रतिगामी होता है, उसी प्रकार सरकारी अनुदान या मददें इन्हीं तीन तरह की होनी चाहिए। सार्वजनिक व्यय इस प्रकार का होना चाहिए कि समूचे समाज पर उसका सर्वाधिक हितकर प्रभाव पड़े। कुछ विचारकों का कथन है कि सार्वजनिक व्यय का जो प्रभाव उत्पादन पर पड़ता है, वह उस व्यय के द्वारा वितरण पर पड़े प्रभाव से प्रतिकूल होता है। यदि ठीक तरह से इन्तजाम किया जाय तो ऐसा नहीं हो सकता। परन्तु इन्तजाम करना ही कठिन है।

राज्य की ओर से देश की स्वतंत्रता को बचाए रखने के लिए जो आम खर्च किया जाता है उससे नागरिकों को संतोष होता है और समाज की भलाई भी परोक्ष रूप से बढ़ती है। करों के विभाजन के क्षेत्र में जिस तरह न्यूनतम त्याग (Minimum Sacrifice) का नियम परिचालित होता है, उसी तरह आर्थिक

सहायताओं के विभाजन में अधिकतम लाभ (Maximum Benefit) का नियम लागू होता है । सरकारी सहायता प्राप्त करने की सामर्थ्य कर देने की सामर्थ्य के साथ अभियोजित होनी चाहिए। आज सोवियट रूस में लोगों को उनकी आवश्यकतानुसार आर्थिक मदद दी जाती है । लेकिन अभी तक साम्यवाद का अन्तिम लक्ष्य उपलब्ध नहीं हो सका है—"From each according to his capacity to each according to his needs" ।

सार्वजनिक व्यय की कुछ त्रुटियाँ

(Some Defects of Public Expenditure)

युद्ध की तैयारी में और उसे चलाने में जो खर्च किए जाते हैं वे अनावश्यक हैं । वे अब एक आवश्यक अभिशाप बन गए हैं । भारत-जैसे दरिद्र राष्ट्र में युद्ध के ऊपर जितना व्यय होता है वह शिक्षा, स्वास्थ्य, आदि के ऊपर किए गए व्ययों की तुलना में बहुत ही अधिक है । सरकार युद्ध में खर्च करने के लिए पागल हो रही है । इसी कारण सार्वजनिक व्यय को लोग सार्वजनिक अर्थनीति का शैतान कहते हैं ।

ऐसा भी संभव है कि सरकार कुछ ऐसे उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर ले और उन्हें चलाने लगे जो आगे चलकर नष्ट हो जायँ या अनावश्यक जान पड़े । यह बहुत बड़ी गलती होगी । ऐसा कभी-कभी होता भी है और इससे समाज की बड़ी क्षति होती है ।

धन को धनिकों से लेकर गरीबों में बाँटने में भी एक भूल हो सकती है । पैसा ऐसे व्यक्तियों के हाथ में दिया जा सकता है जो उसका सदुपयोग करना नहीं जानते । धन का वितरण जल्दीबाजी से भी हो सकता है । इससे सामाजिक तथा औद्योगिक संतुलन को धक्का पहुँच सकता है । लेकिन गंभीरतापूर्वक सोचने से पता चलता है कि यह दलील लचर है ।

कोई-कोई सरकार बहुत-सा धन आम जनता के दृष्टिकोण को बदलने में खर्च करती है। जापान की सरकार ने जापानियों को इस बात की शिक्षा देने में बहुत खर्च किया कि वे जापानी राजाओं को देवता मानें। हिटलर ने भी लोगों को मनोवृत्ति बदलने में बहुत खर्च किया। यह भी ठीक नहीं।

इन त्रुटियों के बावजूद सार्वजनिक व्यय का भविष्य उज्ज्वल है। ऐसे लक्षण हैं जिनसे मालूम होता है कि निकट भविष्य में लड़ाई-भिड़ाई के सामानों, बुनियादी उद्योगों, रोजी और स्वास्थ्य के संरक्षण तथा शिक्षा के ऊपर सरकारी खर्च बढ़ता ही जायगा।

चतुर्थ अध्याय

सार्वजनिक कर-वसूली के प्रभाव

(Effects of Public Taxation)

सार्वजनिक व्यय या सार्वजनिक कर-वसूली के प्रभावों का पृथक-पृथक अध्ययन करना सहज नहीं, क्योंकि दोनों पर स्पष्ट क्रिया-प्रक्रिया, घात-प्रतिघात करते हैं। साधारण विश्वास तो यही है कि सार्वजनिक कर-वसूली का प्रभाव अहितकर पड़ता है और सार्वजनिक व्यय उपयोगिता (Utility) से सम्पन्न होता है, सार्वजनिक-कर वसूली गिता (Disutility) से परिपूर्ण। जब उपयोगिता तथा अनुपयोगिता संतुलन अवस्था में रहती हैं तब समाज का विशुद्ध हित संभव हो सकता है। अतएव सार्वजनिक कर वसूली के प्रभावों को अच्छी तरह से जानने के लिये हमें यह भी सोचना पड़ेगा कि किस तरह राजस्व एकत्र किया जाता और फिर सरकार द्वारा किस तरह खर्च किया जाता है।

जब किसी व्यक्ति पर कोई कर लगाया जाता है तब उसकी आमदनी कर की रकम के बराबर कम हो जा सकती है, अगर उसे वर्तमान आय (Current Income) से देना पड़े। अगर कर को बचत में से देना पड़े तब भावी आय (Future Income) उतना घट जा सकती है, क्योंकि व्यक्ति की बचत ही उसकी भावी आय होती है। यही कर-वसूली का भार है जिससे आदमी को त्याग (Sacrifice) करना पड़ता है। फलस्वरूप वर्तमानकालीन उपभोग कम हो सकता है। यदि कर देने के फलस्वरूप विलास-सामग्रियों को कम

मात्रा में उपयुक्त करना पड़े तो त्याग या कष्ट की मात्रा कम होगी और कर लगने के प्रभाव कम दुःखदायी होंगे। यदि कर लगने के फलस्वरूप किसी व्यक्ति को जीवन की जरूरियातों की खपत कम करनी पड़े तो कर के कष्टदायी प्रभाव गहरे होंगे। फिर अगर बहुत लोगों को कर देना पड़े तो वे सभी प्रभावित होंगे और इसका कुप्रभाव उत्पादन पर पड़ेगा।

यहाँ सार्वजनिक व्यय की लाभदायिता प्रतिभासित होती है। सरकार करों से एकत्र राजस्व को बर्बाद नहीं कर डालती बल्कि उसे सार्वजनिक कार्यों में खर्च करती है और राजस्व वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने के निमित्त खर्च किया जाता है। उत्पादन का इस पर सुप्रभाव पड़ता है। कर वसूली का सुप्रभाव इस सुप्रभाव के चलते कम हो जाता है।

जब कर बचाए धन-कोष से दिया जाता है तब तो बात दूसरी ही होती है। इस हालत में वर्तमानकालीन खपत की मात्रा में कमी नहीं होने पाती। किसी किस्म का त्याग या कष्ट तुरन्त नहीं करना पड़ता। लेकिन एक बात से कष्टानुभूति अवश्य होती है। वह यह है कि आदमी की संग्रहीत पूँजी कम हो गई है। बड़े परिश्रम से वह उसे जमा कर सका था। संग्रहीत पूँजी प्रति वर्ष कुछ आय बढ़ाती ही जाती है। लेकिन जब कर में उसका कुछ अंश दे देना पड़ता है तब उससे जो अग्रिम आमदनी मिल सकती थी वह न्यून हो जाती है। फिर भी यह कष्टानुभूति कर देते समय मालूम नहीं होने पाती। वह एक तरह से स्थगित कर दी जाती है।

जब कर वर्तमान उपभोग्य आमदनी से चुकाया जाता है तब उससे दोनों पीढ़ियों (वर्तमान और भावी) पर प्रभाव पड़ता है और दोनों को कष्ट सहना पड़ता है। इससे समाज में असंतुलन या अव्यवस्था पैदा हो जाती है। लोगों की निपुणता घट जाती है। लेकिन यहाँ पर हम सार्वजनिक व्यय की उपादेयता या गुणकारिता

को विस्मृत नहीं कर सकते। सरकार राजस्व को सार्वजनिक हित के क्षेत्रों में खर्च करके लोगों की निपुणता को न्यून होने से बचा लेती है।

दूसरी ओर, जब कर की रकम संग्रहीत कोष से चुकाई जाती है तब उसका प्रभाव वर्तमान पीढ़ी पर नगण्य और भावी पीढ़ी पर भरपूर पड़ता है। वर्तमान पीढ़ी कर का बोझ नहीं ढोती। लेकिन यहाँ भी सार्वजनिक व्यय परिस्थिति की दुर्वहता को कम कर देती है।

अब हमें देखना है कि कर-वसूली का प्रभाव कार्य करने और विश्राम करने की प्रवृत्तियों पर कैसा पड़ता है। आदमी अपने समय को दो भागों में बाँटता है। वह काम करता है और आराम भी करता है। इन दोनों कार्यों से वह समसीमान्त उपयोगिता उपलब्ध करना चाहता है। अगर कर लगाने के बाद कोई आदमी अधिक काम करके कर की रकम के बराबर अधिक आमदनी पैदा करने की चेष्टा करता है तो फिजूल कार्य से अनुपयोगिता (Disutility of Extra Work) ही होगी। अगर अधिक आय से प्राप्त उपयोगिता इस अनुपयोगिता की बराबरी नहीं कर सकती तो उसे बरबस अधिक काम करना बन्द करना पड़ेगा। उस हालत में वह अधिक विश्राम करना चाहेगा। लेकिन एक अपवाद है। जब प्रतिजन समान कर (Poll-Tax) सब पर लगाया जाता है तब कार्य की अवधि और विश्राम की अवधि में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता। न तो लोग कम काम करते और न अधिक आराम ही।

केवल यही भावना कि कर देना पड़ेगा काम करने की उमंग को कम कर देती है। प्रो० पीगू का कथन है कि प्रगतिशील कर विश्राम को उत्साहित (Premium) करता है; आनुपातिक कर कार्य एवं विश्राम के प्रति तटस्थ (Neutral) रहता है और प्रतिगामी कर (Regressive) कार्य करने की हिम्मत को बढ़ाता (Bounty) है।

यदि कर लगाने के कारण आय के घट जाने से कोई व्यक्ति नाशकारक वस्तुओं की खपत करना बंदकर दे तो स्पष्ट रूप से उसकी सम्पूर्ण भलाई बढ़ जा सकती है, क्योंकि ऐसी चीजों के उपभोग से किसी उपयोगिता की प्राप्ति नहीं होती। जब उनकी खपत बन्द हो जाती है तब उसकी भलाई और निपुणता बढ़ जाती है। विलास तथा आराम की चीजों और शराबखोरी, आदि का बन्द होना इस दृष्टि से हितकर ही कहा जायगा। शराबखोरी, आदि कम करने के लिये कर लगाना पड़ता है जिससे आमदनी होती है।

संस्कृति का उत्कर्ष या विकास विश्राम की अवधि के ऊपर अवलम्बित रहता है। जितना ही अधिक विश्राम करने का समय मिलेगा उतना ही अधिक कोई आदमी चिन्तन-मनन कर सकेगा जिससे उसका जीवन सुसंस्कृत बन सकेगा।

प्रो० पीगू ने कर लगाने से पड़ने वाले प्रभावों को दो खंडों में विभक्त किया है—वितरण-प्रभाव (Distribution effects) और घोषणा-प्रभाव (Announcement Effects)। पहले वितरण-प्रभाव को लीजिये। सरकार सभी व्यक्तियों पर समान रूप से कर नहीं लगाती। किसी को कर अधिक कर देना पड़ता है, किसी को कम और किसी को एकदम नहीं। कर इस प्रकार लगाये जाते हैं कि उनसे जो कष्ट उठाना या त्याग करना पड़े उसकी मात्रा न्यूनतम (Aggregate Minimum Sacrifice) हो। लेकिन सरकार त्याग की मात्रा को न्यूनतम बनाने में पूर्णतया सफल नहीं होती। कर व्यक्तियों की कर देने की सामर्थ्यानुसार (Ability to Pay) लगाए जाते हैं। हो सकता है कि कुछ कर इस भावना के पोषक या समर्थक नहीं हों लेकिन सार्वजनिक रूप से करों के लगाने के पीछे यही भावना (Spirit) काम करती है। सरकार सदा इस बात का ख्याल रखती है कि लोग यह नहीं समझने पावें कि उनसे बहुत ज्यादा कर लिया जाता है और सरकार उनको चूस रही है। इसका एक ही

सूत्र है—"The rich should think that they are paying less than they ought to pay, the poor should think that thay are paying more than they should."। यह हम इसलिये कहते हैं कि सोचने की प्रवृत्ति से ही कार्य की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। अधिक कर देने पर झिझक होती है, आदमी कम काम करना चाहेगा। गरीब कम उपभोग करने के लिए बाध्य होंगे, धनी कम उत्पादन करने के लिये प्रेरित होंगे।

अब घोषणाजन्य प्रभाव पर विचार करें। जब किसी कर के लगाने से कोई आय जो अर्जित की जाने वाली हो कम हो जाती है तब हम इसे घोषणाजन्य प्रभाव कहते हैं। मान लीजिए कोई आदमी है जिसकी आय १०० रु० प्रति माह है। उसपर मान लीजिए, २५ रु० का कर लगाया गया है। अगर वह व्यक्ति चंचल (Sensitive) या सोचने वाला नहीं तो वह प्रतिक्रिया नहीं करेगा। अगर वह चंचल और भावुक है तो वह प्रतिक्रिया करेगा और वह कार्य करना कम कर देगा और ¾ काम करेगा। यह कर लगाने का कुफल है। यही घोषणाजन्य प्रभाव है।

प्रो० पीगू ने लिखा है कि वितरण-जन्य प्रभाव के दृष्टिकोण से कर-पद्धति सर्वोत्तम उसी दशा में कही जायगी जब वह समसीमान्त निकट त्याग के सिद्धान्त के अनुकूल हो और सरकार इस सिद्धान्त का संशोधन अत्यधिक कर-वसूली के परोक्ष प्रभावों (जो धनिकों के ऊपर पूँजी-संग्रह करने के मामले में और गरीबों के ऊपर खपत करने के मामले में पड़ते हैं और जिनके चलते पूँजी-संग्रह कम हो जाती, गरीबों की कुल खपत कम हो जाती है जिससे उनकी उत्पादन शक्ति न्यून हो जाती है) का विचार करके करती है। घोषणाजन्य प्रभाव के दृष्टिकोण से कोई कर इस तरह लगाया जाता है कि जिस पर वह लगाया जाय वह अपनी आदत को इस तरह

न बदल दे जिससे उसके जीवन की गति ही बदल जाय—और वह कर देने से बच जाय (Dodging of a Tax)।

सार्वजनिक कर-वसूली के प्रभावों पर विचार करते समय हमें सहसा उत्पन्न होने वाली आय (Windfall) के प्रभाव, श्रम एवं पूँजी पर लगाने वाले कर के प्रभाव, लौटरी और घोड़दौड़ (Horse-courses) पर कर लगाने पर पड़ने वाले प्रभाव, रूई या जूट पर विशिष्ट कर (Specific Tax) लगाने के प्रभाव पर भी विचार करना होगा। संयुक्त-पूँजी की कम्पनियों पर सरकार कर लगाती है। इसका प्रभाव डिविडेन्ड की बाँट पर पड़ता है। एकाधिकारों पर कर लगाने पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह भी विचारणीय है। कर लगाने से अवनत स्थानों में उद्योग-धंधे खुल सकते हैं या नहीं, या जो खुले हैं उनकी क्या हालत होगी, यह भी सोचना होगा। कर लगाते समय सरकार ऐसा इन्तजाम कर सकती है कि उससे समाज का सम्पूर्ण उत्पादन घटने न पावे। कर लगाने से स्थिर जायदाद का मूल्य घट जाता है (Capitalisation or Amortisation)। सरकार द्वारा विकसित क्षेत्रों पर सरकार किस तरह का कर (Special Assessment) लगावेगी यह भी शोचनीय है। चुंगी (व्यापार-कर) का भी उल्लेख करना जरूरी है। सरकारी कर-वसूली की रूप-रेखा ऐसी हो सकती है जिससे धनी-गरीब के बीच की गहरी खाई कम हो सके है। सरकार सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं को कार्यान्वित कर समाज का सम्पूर्ण कल्याण बढ़ा सकती है। कर लगाकर व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित के संघर्ष को मिटाया जा सकता है।

"उत्पादन पर कर-वसूली के प्रभाव पर विचार करते समय हमें व्यक्तियों के ऊपर पड़े प्रभावों को ही नहीं देखना है बल्कि संस्थाओं के ऊपर पड़े प्रभावों को भी हमें देखना है। हम जानते हैं कि संयुक्त पूँजी की कम्पनियों और रोजगारों में बड़ी बचतें जमा

की जाती हैं। ये बचतें पूँजीगत सामानों को बदलने के निमित्त या नया पूँजी-विनियोग करने के हेतु रखी जाती हैं। इन बचतों को 'डिविडेन्ट' में भी बाँटा जा सकता है। कर लगाने पर विकास या परिवर्तन के लिए जो पूँजी संग्रहीत की गई रहती है, उसपर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

हम पीछे बतला आये हैं कि किस तरह आय-कर का प्रभाव रहन-सहन के पैमाने पर नहीं पड़ता और इस कारण उससे काम करने की क्षमता कम नहीं होती। फिर यदि आय-कर से प्राप्त राजस्व को सरकार ऋणों के सूद देने में खर्च करती है तो इससे क्रय-शक्ति का एक बचत करने वाले वर्ग से दूसरे बचत करने वाले वर्ग में हस्तान्तर मात्र होता है। संयुक्त पूँजी की कम्पनियों द्वारा देश की अधिकांश पूँजी अपने आप संग्रहीत हो जाती है। इस तरह के पूँजी-संग्रह का संबंध लोगों की काम करने और बचत करने की शक्ति से बिल्कुल कम है। जहाँ तक काम और बचत करने की इच्छा का प्रश्न है हम जानते हैं कि लोग बहुधा एक खास रहन-सहन के पैमाने के आदी हो जाते हैं और उनकी माँग एक खास आय के लिए ध्रुव हो जाती है। उस हालत में उनकी इच्छा पर आय-कर लगाने से कोई तुषारपात नहीं होता। लेकिन कुछ "सीमान्त" इच्छा वाले व्यक्ति होते हैं जो इस दुविधा में रहते हैं कि वे बचत करें या नहीं करें। ऐसे व्यक्तियों पर जब आय-कर लगाया जाता है तब निस्सन्देह रूप से उनकी इच्छा आहत हो जाती है। संयुक्त पूँजी की कम्पनियों की काम और बचत करने की शक्ति और इच्छा पर आय-कर का प्रभाव कभी भी बुरा नहीं पड़ता क्योंकि किसी भी दुष्परिणाम की आशंका को मिटाने के लिए पहले से ही कुछ यत्न कर लिये जाते हैं (पढ़िए 'आय-कर के भार का संवहन' शीर्षक अंश)। फिर, आय-कर देने के लोग आदी हो जाते हैं। बाद की पीढ़ियों के लोग उसकी कटुता या

चीत्तणता का अनुभव पहले की पीढ़ियों की अपेक्षा बहुत कम करते हैं।

कुछ लोग यह तर्क पेश करते हैं कि आय-कर एक भेदात्मक (discriminatory) कर है और उसका प्रभाव बचत पर प्रतिकूल पड़ता है और इससे खर्च करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है लेकिन हम पीछे बतला चुके हैं कि इस तर्क की सत्यता सीमित है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि आय-कर से जोखिम से भरे हुए उद्योगों को आरंभ करने की साहस-भावना (Sense of enterprise) घट जाती है लेकिन साहस-भावना एक मनोवैज्ञानिक वस्तु है और इसके बारे में दृढ़तापूर्वक कहना दोष से परे कभी भी नहीं हो सकता। कितने लोग तो अदम्य उत्साही होते हैं और उन पर आय-कर लगे भी तो वे पीछे नहीं हट सकते।

उत्पादकों की जोखिम और अनिश्चयता इस चीज से भी न्यून हो जा सकती है कि आय-कर लगाने से धनी व्यक्ति आराम-विलास की वस्तुओं पर पहले की अपेक्षा कम खर्च करेंगे और सरकार आय-कर से मिले राजस्व को गरीबों की आवश्यक चीजों के उत्पादन पर खर्च करेगी। चूँकि आराम-विलास की वस्तुओं के उत्पादन में अनिश्चयता अधिक रहती है और गरीबों की आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में उतनी अनिश्चयता नहीं रहती है इसलिए आय-कर लगने से उत्पादकों की अनिश्चयता की सम्पूर्ण मात्रा में कमी हो जायगी। यह डाक्टर ब्लेक का मत है।

आय-कर से पूँजी-पलायन (Flight of Capital) की आशंका रहती है। अगर किसी देश में दूसरे देश की अपेक्षा आय-कर की दर अधिक है तब पहले देश से पूँजी का पलायन होगा। पूँजीपति अपनी पूँजी के साथ दूसरे देश में चला जा सकता है। लेकिन क्रियात्मक जीवन में ऐसा शायद ही कभी होता है। लोग एक देश में रहकर दूसरे देश में अपनी पूँजी लगाने से हिचकते भी

हैं क्योंकि इसमें द्वैध कर लगने की आशंका होती है। (देखिये "द्वैत कर की समस्या" शीर्षक अध्याय)। आय-कर अधिक होने पर विदेशी पूँजी का लगना बन्द हो सकता है परन्तु इसका भी बड़ा संदिग्ध पहलू है और यह कई बातों पर निर्भर करता है—विदेश और स्वदेश के आय-कर की दरों में अन्तर, पूँजी-विनियोग से प्रत्याशित मुनाफा की रकम, विदेश में पूँजी की सुरक्षा की मात्रा, राजनैतिक सहयोग तथा स्थिति, आदि।

फिर, हमें करों की प्रवृति के ऊपर भी विचार करना होगा। अप्रत्याशित आयों (Windfalls) पर जो कर लगाया जाता है उससे कोई बुरा असर नहीं पड़ता, क्योंकि ऐसी आयों को कमाने में कोई प्रयास या त्याग नहीं करना पड़ता है। प्रयास से अर्जित आय पर कर लगाने से उसका फल बुरा पड़ता है। Earned और Unearnel Incomes का यही भेद है। कहा भी है "People desire not only to be well off but to better off socially than their rivals"। अनार्जित वृद्धि पर कर (Taxation of Unearned Inorement) लगाने के पक्ष में कई तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं :—(१) समाज के कार्य-कलापों के फलस्वरूप यदा-यदा किसी-किसी जमीन का मूल्य बढ़ जाता है। जमीन के मालिक को कोई मिहनत नहीं करनी पड़ती। काल-क्रम से समाज की आबादी बढ़ती है और उसकी सम्पत्ति भी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इसका फल यह होता है कि अन्न का भाव बढ़ जाता है जिससे लगान और जमीन के मूल्य में वृद्धि होती है। शहरों में भूमि के मूल्य में अनार्जित वृद्धि बहुत देखने में आती है। जहाँ नई सड़के बनती हैं, पार्क खुलते हैं वहाँ की जमीन का मूल्य सहसा बढ़ जाता है। यह मूल्य वृद्धि आकस्मिक होती है। अतएव सरकार का ऐसी वृद्धि पर कर लगाना न्यायोचित है। (२) चूँकि भूमि के मूल्य में अचानक वृद्धि हुई है इसलिये जब उस पर कर

लगाया जायगा तब भी भूमि की पूर्ति में कोई परिवर्तन नहीं होगा और जमीन के मालिकों की इच्छा के ऊपर भी कोई बुरा असर नहीं पड़ेगा। (३) अनार्जित मूल्य-वृद्धि लगान के समान है और चूँकि लगान पर कर लगाना बुरा नहीं इसलिए इस प्रकार की अनार्जित मूल्य-वृद्धि पर भी कर लगाना बुरा नहीं होगा। (४) टॉसिग ने लिखा है भविष्य में निहित स्वार्थ (Vested interest) नहीं होते और इस दृष्टि से अनार्जित वृद्धि पर कर लगाना असंगत नहीं कहा जा सकता।

अनार्जित वृद्धि के ऊपर कर लगाने के विपक्ष में जो वितर्क दिए जाते हैं वे यों हैं—(१) भूमि के मूल्य में अनार्जित वृद्धि कभी-कभी जमीन के मालिक के प्रबन्ध-कार्य या दूरदर्शिता के कारण भी हो सकती है। इस हालत में उस पर कर लगाना अनुचित होगा। (२) यह संभव है कि बड़े मूल्य वाली जमीन को खरीदने वाले ने पहले से ताड़ लिया हो कि भविष्य में उस अमुक जमीन में उन्नति होगी और इसलिए उसने उसका अधिक दाम दे दिया हो और अब उन्नति हो जाने पर उतना ही दाम मिल रहा हो (जितना कि दिया जा चुका है)। ऐसी परिस्थिति में महाशया रॉबिन्सन के मतानुसार इस जमीन की मूल्य-वृद्धि को जिस अंश तक अधिक दाम दिया जा चुका है आकस्मिक वृद्धि (Windfall) नहीं कहा जा सकता है। उसे संग्रहीत दर-व्याज (accumulated or combined Interest) कहा जायगा। (३) फिर, आर्थिक लगान के अर्जित और अनार्जित अंशों का पता लगाना अर्थ-सचिव के लिए अति कठिन होता है। भूमि स्वयं अपनी उन्नति नहीं करती। उसके मालिक को भी कुछ करना पड़ता है। (४) अनार्जित वृद्धि पर कर लगाने से पिछड़े देश की भूमि की उन्नति और श्रेष्ठ उपयोग होना रुक जा सकता है। लोगों का उत्साह खत्म हो जा सकता है। अनार्जित वृद्धि एक प्रबल आकर्षक शक्ति है। उसके लोभ के वशीभूत

होकर लोग जमीन की उन्नति करने की योजना बनाते हैं। (५) भूमि किसी आदमी के लिए पूँजी के सदृश है। अगर भूमि की अनार्जित वृद्धि पर कर लगाना जायज है तो और प्रकार की पूँजियों में भी जो अनार्जित वृद्धियाँ होती हैं उनपर भी कर लगाना चाहिये। अन्यथा, यह एक भेदात्मक (discriminatory) कर-व्यवस्था होगी। सिनेमा के बड़े-बड़े अभिनेता और अभिनेत्रियों को जो पारिश्रमिक मिलता है, बड़े ऋणदाताओं को जो सूद मिलता है, उस पारिश्रमिक में, उस सूद में भी अनार्जित वृद्धि का अंश होता है। लार्ड केन्स के शब्दों में—"Interest to-day rewards no genuine sacrifice, any more than does the rent of land"।

अतएव उनपर भी भूमि की तरह कर लगाना चाहिये और भेद भाव या पक्षपात करना ठीक नहीं क्योंकि कर लगाने से उनकी जायदाद का मूल्य घट जाता है—जिसे पूँजीकरण (Capitalisation) कहते हैं—और इस घटी का समूचा बोझ उन्हें ही सहना पड़ता है। (६) अगर राज्य अमूमी अनार्जित वृद्धि को अपहृत कर लेता है तब उसे उसके मालिक को मुआवजा (Compensation) भी देना चाहिये। क्योंकि भूमि का विक्रय-मूल्य न्यून हो जाता है। सरकार के लिए यह कहना शोभा नहीं देता कि "Heads I win Tails you lose" अर्थात् मीठा-मीठा गप और कड़ुआ-कड़ुआ थू"। उसे ऐसी नीति ग्रहण करना ठीक नहीं।

इतने वाद-विवाद के होने पर भी आज की प्रगतिशील (समाजवादी ?) सरकारें भूमि के मूल्य में अनार्जित वृद्धि पर कर लगाना अपना प्रधान कर्त्तव्य मानती हैं और बहुमत इसी पक्ष में है कि यदि राज्य भूमि के मूल्य की वर्तमान अनार्जित बढ़ती का केवल एक अंश और भविष्य की अनार्जित बढ़ती का अधिकांश ले लेता है तो इसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती है।

एकाधिकारी पर भी कर लगाया जाता है। उसका भी बुरा प्रभाव कई हालतों में उत्पादन पर नहीं पड़ता है।

कुछ लोग पूँजीवाद की कीमत-प्रणाली और प्रतियोगिता की तारीफ करते हुए कहते हैं कि करों को इस तरह से लगाना चाहिए कि उनका कोई बुरा प्रभाव इन दोनों पर नहीं पड़े क्योंकि जब तक ये दोनों अक्षुण्ण रहती हैं, अव्याहत रहती हैं तब तक उत्पादनशील साधनों का विभिन्न पेशाओं या प्रयोगों में सर्वोत्तम उपयोग या नियुक्ति होती है। यहाँ तो यह लिखना बेकार ही होगा कि ये लोग गलतफहमी में हैं, उनकी धारणा अब गलत साबित हो चुकी है। अप्रत्याशित अथवा अनार्जित आमदनी पर जो कर लगाया जाता है उससे साधनों के स्थान्तर द्वारा बचा नहीं जा सकता है। उसी तरह जमीन की स्थिति (Site) के मूल्यानुसार जो कर लगाया जाता है उससे छुटकारा पाना मुश्किल है क्योंकि जमीन की स्थिति बदली नहीं जा सकती। इस तरह दोनों में कर लगाने का कोई दुष्परिणाम नहीं पड़ता। मगर मुनाफा के ऊपर जो काफी प्रगतिशील कर लगाया जाता है उससे ऐसा मुमकिन है कि अधिक जोखिम वाले व्यवसाय से हटाकर कम जोखिम वाले व्यवसाय में साधनों को लगाया जाय। इसका आनुषंगिक नतीजा यह भी हो सकता है कि साधन एक स्थान से दूसरे स्थान में लगाए जायँ। मिसाल के लिए अगर बिहार में कर बंगाल की तुलना में अधिक है तो इसका फल यह होगा कि साधन बिहार से बंगाल में स्थानान्तरित कर दिए जायेंगे। एक ही देश में स्थान-स्थान (प्रान्त-प्रान्त, राज्य-राज्य) के बीच कर की दरों में विभिन्नता होने से कुछ क्षेत्रों में कुकुरमुत्ते की तरह व्यवसाय (Mushroom growth) चल पड़ सकते हैं तो कुछ क्षेत्रों में व्यवसाय अविकसित (Depressed) हालत में रह सकते हैं।

यह भी कहा जाता है कि कर लगाने से समाज की पूर्ण रोजी कम हो जाती है क्योंकि कर लगाने पर समाज की क्रय-शक्ति कम हो जाती है, पहले से कम कुल माँग होती है, कम उत्पादन होता है और

फलस्वरूप कम लोग काम पाते हैं। लेकिन यह भ्रमपूर्ण (Fallacious) है क्योंकि इसमें मान लिया जाता है कि कर लगाने से जो आमदनी होती है वह खर्च नहीं की जाती है। उसका समाजगत वितरण नहीं होती है मगर यह बात नहीं है जो कुछ भी आमदनी होती है वह सार्वजनिक हित में खर्च की जाती है। कर लगाने से क्रय-शक्ति का केवल हस्तान्तर मात्र होता है। उससे समाज की कुल माँग घटती नहीं है। इसलिए रोजी भी घटने नहीं पाती है।

हाँ, जब किसी कारखाने में लगाए हुए मजदूरों की संख्या के अनुसार कर लगाया जाता है या जब कर की दर उत्पादन के परिमाण के बढ़ने के साथ बढ़ती जाती है तब इसका रोजी पर बुरा असर पड़ता है।

करों का जो प्रभाव "वितरण" पर पड़ता है उसपर विचार करते समय हमें देखना होगा कि कर जीवन की जरूरियातों पर लगाया गया है या भद्र जरूरियातों पर या आराम की वस्तुओं पर या विलास की वस्तुओं पर। यह जाहिर है कि जीवन की जरूरियातों पर जो कर लगाया जाता है उसका प्रतिगामी (Regressive) असर आयों के वितरण पर पड़ता है। यह इसलिए कि गरीब लोग जीवन की जरूरी चीजों पर अनुपाततः सबसे अधिक खर्च करते हैं। मगर ऐसा कर लगाया गया तो उसका साफ असर यह होगा कि समाज के वर्ग-वर्ग के बीच आयों का जो विषम वितरण अभी है वह और भी विषम हो जायगा। जब आराम और विलास की चीजों पर कर लगाये जाते हैं तब उससे आयों के वितरण की वर्तमान विषमता न्यून हो जाती है क्योंकि इन्हें अधिकांशतः धनी लोग खरीदते हैं। मृत्यु-कर भी आय और धन के वितरण की वर्तमान विषमता को कम कर सकते हैं। दूसरी ओर, जब कोई ऐसी चुंगी लगाई जाती है जिसके चलते मजदूरी की दर ज्यों-की-त्यों रह जाती

है तब मजदूरों की वास्तविक आय कम हो जाती है और इससे समाजगत विषमता और भी कम हो जाती है। अगर यह चुंगी विलास एवं आराम की वस्तुओं पर पड़े तब विषमता कुछ कम हो जायगी। फिर, अगर किसी चुंगी (व्यापार-कर) के लगाने से श्रम कम लाभदायी कार्य से हटकर अधिक लाभदायी कार्य में लग जाय तो इससे भी वह विषमता कम हो सकती है। अन्त में हमें इस बात पर भी दृष्टिपात करना होगा कि जो कर लगाए जाते हैं उनको एकत्र करने में कितना खर्च पड़ता है, क्या इस दृष्टि से वह किफायतशारी है या नहीं है, आदि।

अन्त में डा० डाल्टन के मत को यहाँ उद्धृत कर देना अच्छा होगा। कर-वसूली का प्रभाव कैसा होगा यह करों की प्रकृति और कर देने वालों की प्रकृति के ऊपर निर्भर करेगा। कर-वसूली प्रतिबन्ध का काम तीन तरहों से करती है :—काम करने तथा संग्रह करने की सामर्थ्य पर प्रभाव डालकर, काम करने तथा संग्रह करने की इच्छा पर प्रभाव डालकर तथा विविध पेशाओं और स्थानों के बीच आर्थिक साधनों को स्थानान्तरित करके। "It is under the first head, and especially as a result of reduced ability to save, that the check is most certain and probably most serious under the second much depends on the character of the tax-payers, or, in technical terms, on the elasticity of their demand for income. A check to production under this head is inevitable ; on the contrany, a stimulus to production is a possibility. Under the third head, much defends on the wise selection of taxes. Here, again, a check to production is not inevitable, and a stimulns is possible." अगर कर-वसूली से मिले कोष को बर्बाद कर दिया जाय तो आर्थिक

भलाई नहीं बढ़ेगी और यह स्पष्टतया एक आर्थिक क्षति होगी। लेकिन अगर इस कोष को बुद्धिमानी के साथ खर्च किया गया तो उत्पादन घटने के बदले उत्प्रेरित हो सकता है। कर वसूली के प्रभावों का सवाल काम करने के ध्येयों (Motives) और उनके उत्सों (Sources) के बीच के द्वन्द्व का सवाल है। "In practice, upon ability to work and save are likely to be much more important than effects upon willingness to do these things. Ability is mainly determined by fundamental realites; willingness depends largely on supeficial conventions."

पंचम अध्याय

'सार्वजनिक राजस्व'

(Public Revenue)

भूमिका

(Introduction)

राज्य को अपनी आवश्यकताएँ नहीं होतीं। व्यक्तियों की आवश्यकताओं को ही लेकर सरकार आवश्यकताओं के अस्तित्व की अनुभूति करती है। हीगेल ने बहुत पहले यह प्रतिपादित किया था कि राज्य को अपना पृथक व्यक्तित्व होता है। आज हम इस सिद्धान्त को नहीं स्वीकार करते। राज्य का अस्तित्व व्यक्तियों के लिए है और वह व्यक्तियों की ही समष्टि है। इस दृष्टि से राज्य को व्यक्तियों की इच्छाओं की पूर्ति करना आवश्यक है। इस कारण से राज्य को कोष की जरूरत पड़ती है। सार्वजनिक राजस्व को दो वृहत वर्गों में बाँटा जा सकता है। वे साधारण राजस्व और असाधारण राजस्व हैं। साधारण राजस्व की प्राप्ति कतिपय जरियों से होती है। सबसे प्रधान जरिया कर का है। अधिक राजस्व सार्वजनिक काम-धंधों यथा डाक-तार, रेलवे, राजकीय भूमि, जंगल और खानों ; करेंसी और मुद्रास्फीति और शुल्कों और खास वसूलियों से प्राप्त होता है। असाधारण राजस्व में सरकार द्वारा लिए गए कर्ज हैं जिन्हें सरकार पूँजीपत्र, बोन्ड, आदि बेचकर लेती है। डाल्टन ने सार्वजनिक राजस्व के जरियों को कर, दाम और दोनों के उभयनिष्ट रूप में बाँटा है। उन्होंने कर को व्यापक रूप में लिया है। कर में कर, बलात कर्ज, दंड, शामिल हैं। कीमतों में करेन्सी

से आमदनी, सार्वजनिक उद्योगों से आमदनी, खास वसूलियाँ और स्वेच्छापूर्ण दिए दान शामिल हैं। लेकिन इस तरह का वर्गीकरण सर्वथा दुरुस्त और सर्वसम्मत ही नहीं कहा जा सकता। †

कर की परिभाषा

(Definition of Tax)

कर सरकार द्वारा व्यक्तियों से जबरदस्ती ली हुई रकम है। जिसपर कर लगाया जायगा उसे कर देना ही पड़ेगा। कोई भी आदमी इस शर्त पर कर देना अस्वीकार नहीं कर सकता है कि उसे उसके द्वारा खास लाभ नहीं होता है। कर लेने का मतलब यह नहीं है कि जो कर दे उसे जरूर लाभ पहुँचाया जाय। उसके लेने का मतलब है सरकार को पैसा देना जिससे वह सार्वजनिक हित के लिए काम कर सके। कर का अधिक भार उसी आदमी पर पड़ता है जो राज्य के काम से कम लाभ उठाता है। कर देनेवाला अपेक्षाकृत धनी ही होता है। कर लगाने के ढंग में न्याय उसी समय है जब अधिक भार उसी आदमी पर पड़े जो उसका वहन कर सके।

शुल्क की परिभाषा

(Definition of Fee)

फीस उसी व्यक्ति के द्वारा दी जाती है जो सरकार से खास लाभ उठाता है। कचहरी की फीस उसे ही लगती है जो राज्य के

---

† डाल्टन ने भी लिखा है —

"The general conclusion of this discussion is that the sources of public income may indeed be classified but that many of the distinctions involved are not clear cut and that, here as elsewhere, the search for a classification is more instructive than the classification when found." The whole idea is woolly and so for as the study of first principles is concerned unprofitable."

न्याय-शासन से लाभ उठाता है। लोग झंझट-फसाद का फैसला कराना चाहते हैं और इसीलिए वे फीस देते हैं। यदि हम सरकार से कोई खास काम नहीं कराना चाहें तो हमें कोई फीस नहीं देनी होगी। फीस लेने का मतलब काम करने के व्यय को अंशतः पूरा करना है। लाइसेन्स फीस कार्य-व्यय से अधिक होता है।

दाम की परिभाषा
(Definition of Price)

दाम का अर्थ वह राजस्व है जो सरकारी चीजों और कार्यों के बेचने पर सरकार को मिलता है। सरकार साधारण व्यवसायियों की तरह ही बहुत से व्यवसाय करती है। व्यवसाय से उत्पन्न चीजों को बेचने से उसे दाम मिलता है। सरकार के जिम्मे जंगल, खानें, आदि रहती हैं जिनको बेचने से कीमतें प्राप्त होती हैं। दाम quid pro quo है। पोस्टकार्ड का दाम हमें देना पड़ता है। यदि हम पोस्टकार्ड नहीं खरीदें तो हमें उसका दाम नहीं देना पड़ेगा। इसलिए दाम भी किसी खास लाभ के होने पर ही दिया जाता है। परन्तु दाम और फीस में यही फर्क है कि दाम के बदले जो काम किया जाता है या लाभ प्राप्त होता है वह दाम के बराबर होता है, परन्तु फीस के बदले जो काम किया जाता है या लाभ प्राप्त होता है वह कम या अधिक हो सकता है।

खास वसूली या विशेष निर्धारण
(Special Assessment)

यह भी जरूरी देन है। सरकार सार्वजनिक भलाई का कोई काम करती है। इससे किसी-किसी व्यक्तिगत सम्पत्ति की मान्यता बढ़ जाती है। इससे लोगों को लाभ पहुँचता है। अतएव जो खास

वसूली होती है वह खास लाभ के अनुपात में ही वसूली जाती है। उदाहरण के लिए यदि सरकार किसी भूभाग में बढ़िया सड़क बनवा देती है, या वहाँ पानी की निकासी का प्रबन्ध करती है या पार्क बनवा देती है तो वहाँ यदि किसी व्यक्ति की जमीन रहती है तो उसकी कीमत बढ़ जाती है। इस तरह अनुपार्जित आमदनी के कुछ भाग को अधिकृत करने का राज्य को पूरा अधिकार है। इस ख्याल से जो कर लगाया जाता है उसे खास वसूली कहते हैं। इस वसूली के द्वारा सरकार अपने भारी खर्च को पूरा करना चाहती है। खास वसूली में पाँच तत्त्व होते हैं :—(१) खास उद्देश्य का तत्त्व (२) खास लाभ माप्य होता है। (३) ये वसूलियाँ प्रगतिशील नहीं बल्कि लाभ के आनुपातिक होती हैं। (४) वे खास स्थानीय उत्थान के लिए ली जाती हैं। (५) उनसे पूँजी की प्राप्ति होती है। फीस के विपरीत खास वसूली में जबरदस्ती का कुछ तत्त्व है।

स्थानीय कर
(Local Rates)

ये स्थानीय संस्थाओं (Local Bodies) द्वारा लगाए जाते हैं। स्थानीय संस्थाओं में प्रधान रूप से उल्लेखनीय म्युनिसीप्लेटी और डिस्ट्रीक्ट तथा लोकल बोर्ड हैं। ये कर आमतौर से निवासियों की स्थिर व अचल (Immovable) सम्पत्ति या जायदाद (जैसे, मकान, जमीन, जलकर, आदि) पर लगाए जाते हैं। कुछ चल वस्तुओं (जैसे, बाईसिकिल, कुत्ता, सवारी, आदि) पर भी ये कर लगाये जाते हैं। लेकिन कर इसलिये नहीं लगाया जाता कि इन स्थानीय संस्थाओं ने कोई खास उन्नति इनमें की है या इनके अधिपतियों की कोई खास भलाई की है और इसीलिये बदले में कर चाहती हैं। फिर, ऐसे करों की दरों में स्थान-स्थान के बीच अनुरूपता भी नहीं होती।

अनुदान
(Grants)

कितने धनी-मानी लोग मरते समय केन्द्रीय या स्थानीय सरकार को अपनी धन-दौलत सौंपते जाते हैं यद्यपि वे कुछ इच्छा (will) भी प्रकट करते जाते हैं कि उसका उपयोग अमुक कार्य या कार्यों में हो। कितने लोग अपने जीवन काल में ही सरकार को कोई जायदाद हस्तान्तरित कर देते हैं (बिड़ला ने अपने भवनों को भारतीय सरकार को दे दिया है)। स्थानीय सरकारों को केन्द्रीय सरकार द्वारा भी अनुदान संकट-काल में मिलता है जिससे वे अपनी आर्थिक एवं सामाजिक हालत सुधार सकें। एक देश भी दूसरे देश को अनुदान देता है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से भी देशों को अनुदान मिलते हैं।

जुर्माना (Fines) और दंड (Puni shments) से भी सरकारों को कुछ आमदनी हो जाया करती है। विजयी सरकार को हर्जाना (Reparation) पराजित सरकार देती है। यह भी राजस्व का एक जरिया है।

षष्ठ अध्याय

सार्वजनिक कर के सिद्धान्त

(Canons of Public Taxation)

अदम स्मीथ द्वारा चलाये गए कर के सिद्धान्त

(Canons of Taxation advocated by A. Smith)

अदम स्मीथ आधुनिक राजनैतिक प्रणाली के जन्मदाता थे। उन्होंने कर वसूलने और लगाने के जो सिद्धान्त बतलाए हैं वे अभी भी ताजे हैं और उनका उल्लेख करना जरूरी है। वे चार हैं।

(१) योग्यता या समता का सिद्धान्त

(Canon of Ability or Equality)

प्रत्येक राज्य के व्यक्ति को सरकार के पोषणार्थ उतना कर देना चाहिए जो उसकी व्यक्तिगत योग्यता के अनुकूल हो। सरकार की संरक्षता में मनुष्य जो राजस्व प्राप्त करता है उसीके अनुसार उसे सरकार को कर देना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार अदम स्मीथ का मतलब था कि करों का निर्णायक वह योग्यता या त्याग होना चाहिए जो प्रत्येक जन के लिए समान हो। धनी आदमी गरीब आदमी की अपेक्षा अधिक कर दे सकता है। इसलिए करकी प्रणाली को प्रगतिशील होना चाहिए। समता के सिद्धान्त का अर्थ यह नहीं कि प्रत्येक आदमी बराबर ही कर दे, क्योंकि यह सर्वथा अनुचित होगा। इसका मतलब यह भी नहीं है कि सभी लोगों को एक ही राशि या अनुपात में कर देना चाहिए। इस

सिद्धान्त का सीधा तात्पर्य त्याग की समता से है। अर्थशास्त्रियों में इस सिद्धान्त के अर्थ के सम्बन्ध में एक राय नहीं। फिर भी अधिक लोग इसी अर्थ को ग्रहण करते हैं कि कर की प्रणाली को प्रगतिशील होना चाहिए। वे अदम स्मीथ के दूसरे कथन को उद्धृत करते हैं कि "धनी को गरीब आदमी के अनुपात में ही कर नहीं देना चाहिए बल्कि अनुपात से कुछ अधिक भी"। इसी हालत में कर देने की योग्यता के अनुपात में होगा। कुछ लोग स्मीथ द्वारा व्यवहृत "Proportion" शब्द पर अधिक जोर देते हैं।

(२) निश्चय का सिद्धान्त
(Canon of Certainty)

स्मीथ ने लिखा है कि प्रत्येक व्यक्ति को जो कर देना पड़ता है उसे निश्चित रहना चाहिए, निरंकुश नहीं। कब कर देना होगा, किस तरह देना होगा, कितना देना होगा—ये बातें कर देनेवाले और कर पानेवाले, दोनों को स्पष्ट होनी चाहिए। कर-प्रणाली में अनिश्चय होने से बुराई और जबरदस्ती का समावेश होता है। हैडले ने भी इस सिद्धान्त को बहुत ही प्रधान माना है, क्योंकि यदि कर में समता का गुण हो, परन्तु निश्चयता का सामंजस्य नहीं तो वह अच्छा नहीं। कर को कर के ऑफिसर (अमला) की मर्जी पर छोड़ देना कतई अच्छा नहीं है। इसी कारण से कर का पूरा प्रचार किया जाता है। बजट का पास होना पूर्ण प्रचार पर अवलम्बित है। "पुराना कर कोई कर नहीं" की कहावत इसी सिद्धान्त से निकली है। पुराना कर जाना-सुना रहता है। इसकी प्रक्रिया समाप्त हो चुकी रहती है। लोग उससे घुल-मिल गए रहते हैं। लोग उसके भार को भूल गए होते हैं। पुराने कर से कोई असुविधा नहीं उपस्थित होती। सरकार को भी करों से

आमदनी मालूम रहने पर वह अपने बजट का इन्तजाम पहले से ही कर सकती है।

३. सुविधा का सिद्धान्त

(Canon of Convenience)

प्रत्येक कर उस समय और उस ढंग से लगाना चाहिए कि देनेवाले को सुविधा महसूस हो। यह सिद्धान्त स्पष्टतः अनुमोदनीय है। यदि इसका पालन नहीं किया जाय तो कर देनेवाले पर काफी बोझ पड़ेगा। यदि घर या जमीन पर का कर ऐसे समय वसूला जाय कि देनेवाले को कठिनाई का अनुभव नहीं हो तो यह कर जरूर सुविधाजनक है। बेंक द्वारा कर दे देने की सुविधा अफसर को देने की जगह ग्राह्य है। भोक्ताओं पर जो कर लगाए जाते हैं वे बड़े ही सुविधापूर्ण होते हैं। भोक्तागण जब चीज थोड़ी मात्रा में खरीदते हैं तब वे दाम के साथ ही अनजान ही में कर दिया करते हैं। व्यसन की चीजों को खरीदते समय ही कर देना पड़ता है। चीजों की कीमतों में ही कर सन्निहित रहता है। भारतवर्ष में जो मालगुजारी दी जाती है वह भी सुविधापूर्ण ही होती है, क्योंकि यह फसल कटने के बाद ही दी जाती है। आय-कर सुविधापूर्ण नहीं है। जिसपर यह कर लगाया जाता है उसे अपनी बही-खाते अफसर के पास ले जाना पड़ता है। इसमें समय लगता है। मिहनत उठानी पड़ती है। अतएव कर लगाने का यह सिद्धान्त बहुत ही लाभप्रद है।

४. मितव्यय का सिद्धान्त

(Canon of Economy)

प्रत्येक कर इस तरह लगाना चाहिए कि इसको वसूल करने में

बहुत कम खर्च हो। कर देनेवाला जितना दे और सरकार के खजाने में जितना जाय उसमें बहुत कम अन्तर हो। यदि कर के इकट्ठा करने का खर्च बहुत कम हो तो वह अच्छा है। यदि कर वसूल करने में इतने ऑफिसर रखने पड़े कि उनके वेतन में ही अधिकांश प्राप्त रकम खत्म हो जाय तोऐसा प्रबन्ध ठीक नहीं और वह कर भी नहीं लगाना चाहिए। यदि कर देने में खर्च पड़े और समय का नष्ट हो तो ऐसा कर हर्गिज मितव्ययी नहीं। कर को किफायतशार इस दृष्टि से भी होना चाहिए कि उससे व्यापार और उद्योग को बाधा नहीं पहुँचे। यदि बहुत अधिक कर लिया जायगा तो लोगों की आमदनी घट जायगी और समाज की उत्पादन-शक्ति को गहरा धक्का लगेगा। नशीली चीजों पर जो कर लगाया जाता है वह किफायत होता है। उससे सरकार को आमदनी तो होती है, साथ ही साथ लोगों का सुधार भी होता है। कच्चे मालों पर कर लगाना इस सिद्धान्त के विरुद्ध है, क्योंकि इससे गरीबों को और उद्योग-धंधों को धक्का पहुँचता है।

इन चार सिद्धान्तों में पहला सिद्धान्त कर के सिद्धान्त से और तीन बाकी सिद्धान्त कर वसूलने के ढंग से सम्बन्धित हैं। पहले सिद्धान्त की व्याख्या के बारे में जो भ्रम है उसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यद्यपि निश्चय और सुविधा के सिद्धान्त ठीक हैं, तथापि आज उन्हें उतनी ख्याति प्राप्त नहीं। आजकल मितव्यय वाले सिद्धान्त की अधिक कद्र की जाती है। बात यह है कि यह सिद्धान्त कर-प्रणाली में समतावाला जो सिद्धान्त है उससे जुड़ा है।

वर्तमान अर्थशास्त्रवेत्ताओं ने कुछ नए सिद्धान्तों का निरुपण किया है। उनका विवरण नीचे दिया जाता है।

उत्पादनशीलता का सिद्धान्त
(Canon of Productivity)

कर का उत्पादनशील होना जरूरी है। अर्थमंत्री का ध्यान

अधिक से अधिक कोष को पाना है। इसलिए जो कर आप ही आप अधिक उपज देता है, वही अच्छा है। कर से इतना पैसा मिल जाय कि सरकार को कर्ज न लेना पड़े। आबादी बढ़ने से जो कर बढ़े वह अच्छा है। इस आधार पर जो कर बना होता है वह देश की उत्पादनशीलता पर बुरा प्रभाव नहीं डालता। उत्पादनशीलता का सिद्धान्त इसीका बयान करता है। चीजों जो पर कर लगाया जाता है वह इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है। आबादी के बढ़ने के साथ लोग अधिक मात्रा में चीजों का उपयोग करते हैं और कर की रकम स्वतः बढ़ती जाती है।

लोच का सिद्धान्त

(Canon of Elasticity)

इस सिद्धान्त के अनुसार करों की प्रणाली को ऐसा रहना चाहिए कि राज्य की आवश्यकताओं के बढ़ने-घटने के साथ कर की रकम भी बढ़ती-घटती जाय। आपत्ति और संकट के समय सरकार को यह सुविधा प्राप्त रहनी चाहिए कि वह कुछ करों को आसानी से बढ़ा सके। जब लोग तकलीफ में रहें तो वह कुछ करों को भी घटा सके। रेलवे रेट और पोस्टल रेट इसी प्रकार लोचपूर्ण हैं। अतः करों की लोच स्पृहणीय है।

कर-प्रणाली को इन सिद्धान्तों का पालन करने के साथ सरलता, मितव्यय, विविधता और प्रसारिता का भी ख्याल करना चाहिये। † Flexiblity—प्रसारिता का तात्पर्य कर-प्रणाली के फैलने योग्य होने से है। लोच (Elasticity) का तात्पर्य करों से अधिक या कम

† (१) न चास्थाने न चाकाले करोस्तेभ्यो निपातयेत्।
अनुपूर्वेण सान्त्वे न यथाकाले यथा विधि ॥ (महाभारत)

(२) पक्वं पक्वमिवारामात् फलं राज्यादवाप्नुयात्।
आत्मच्छेदभयादामं वर्जयेत् कोपकारकम् ॥ (कौटिल्य)

रकम प्राप्त होने से है। बिना प्रसारिता के लोच हो ही नहीं सकती। कर की प्रणाली सर्वसाधारण के लिये सरल, सीधा और बोधगम्य होनी चाहिये। केवल एक ही कर या थोड़े ही करों से काम नहीं चल सकता। इसलिये कर की प्रणाली में विविधता का गुण रहना चाहिये। "The public authority is like the mother in the Sanskrit verse. The girl covets beauty, the mother riches, the father knowledge the relations good family and other people sumptuons marriage feast." (अन्य आधुनिक सिद्धान्तों के लिये नवम अध्याय पढ़िये)

कर लगाने के कुछ अन्य सिद्धान्त
(Some Other Theories of Taxation)

[१] लाभ वाला सिद्धान्त
(Benefit Theory)

इस सिद्धान्त का कथन है कि कर की प्रणाली तभी समान हो सकती है जब प्रत्येक व्यक्ति राज्य से जितना लाभ उठाता है उसी के अनुपात में कर दे। यदि राज्य से उसे अधिक लाभ होता है तो वह अधिक कर दे और कम लाभ होता है तो कम कर दे। लाभ पहुँचने का सवाल राज्य के कार्यों पर निर्भर करता है। यह राज्य के कार्यों का फल है कि लोग कम या अधिक लाभ उठाते हैं। अतएव जो अधिक लाभ उठाते हैं उन्हें अधिक कर देना चाहिये क्योंकि राज्य को उनके लिये अधिक काम करना पड़ता है। यह सिद्धान्त अनुचित है, यह कहने की बात नहीं। इसकी आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं।

(१) इस सिद्धान्त के अनुसार गरीबों को अधिक कर देना होगा, क्योंकि राज्य के कार्यों से उन्हें ही अधिक लाभ पहुँचता है।

परन्तु गरीब लोग कर दे ही नहीं सकते। वास्तव में कर की प्रणाली को लोगों की समर्थता या योग्यता का विचार करना होगा। इसके अभाव में समता का गुण आ ही नहीं सकता। पर सरकार का कर्त्तव्य है कि वह धनी आदमियों से कर वसूलकर गरीबों का भला नाना प्रकार से करे। मील ने भी कहा था—"This principle is a mere apotheosis of distributive justice"।

(२) दूसरी बात यह है कि राज्य से किसी-किसी व्यक्ति को कितना लाभ प्राप्त होता है, इसको नापना कठिन है। मापक के अभाव में यह सिद्धान्त व्यवहारहीन है। पुलिस और सेना से तो सभी को लाभ पहुँचता है। अतः व्यक्तिगत लाभ को निर्धारित करना मुश्किल है। लोग जो कर देते हैं उसका सम्बन्ध लाभ से नहीं रहता है।

यह सिद्धान्त उसी हालत में ठीक है जब हम समूचे समाज के लाभ की बात करें। लुट्ज का कथन है कि यदि व्यक्तिगत आधार को छोड़कर यह देखा जाय कि राज्य से कुल नागरिकों को सब मिलाकर कितना लाभ होता है तो हम यह कह सकते हैं कि करों की कुल मात्रा के बदले में राज्य से कुल मिलाकर इतना लाभ होता है।

[२] कार्य सम्पादन के व्ययवाला सिद्धान्त
(The Cost of Service Principle)

इस सिद्धान्त का कथन है कि कर इसलिये लगाया जाता है कि राज्य को अपने काम पूरा करने के लिये कुछ खर्च उठाना पड़ता है। यह सिद्धान्त रेलवे और पोस्टल दरों का निर्णय करने में प्रयुक्त हो सकता है, परन्तु दूसरे-दूसरे करों के निर्णय में में इस सिद्धान्त का सहारा हम नहीं ले सकते। सेना, पुलिस, आदि के कार्यों का व्यय, जिसके लिए कर द्वारा दिया जाता है, नहीं निर्धारित किया जा सकता।

कर कीमत नहीं है कि जितना काम किया जाय उतना दाम लिया जाय। कर लोगों से बलात् लिया जाता है। इसमें काम करने या न करने का सवाल नहीं उठता। प्रत्येक जन के लिये कितना काम किया गया और उससे कितना कर लेना चाहिये, इसका तो निर्णय न किया जा सकता है और न यह उचित ही है। हम जानते हैं कि सरकार बुढ़ापे में पेंशन दिया करती है। पेंशन, आदि के लिए उसे इन्तजाम करना पड़ता है और इसमें खर्च लगता है। यदि यह सिद्धान्त माना जाय तो पेंशन पानेवाले को टैक्स में केवल पेंशन की रकम ही नहीं देनी होगी, बल्कि उसके साथ इन्तजाम का खर्च भी देना होगा। यह बहुत ही भ्रामक सिद्धान्त है और इसलिये स्वीकार नहीं किया जा सकता।

[२] "देने की सामर्थ्य" वाला सिद्धान्त

(The "Ability to Pay" Theory)

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार कर देना चाहिये जिससे राज्य की शासक-मंडली अपना खर्च चला सके। सरकार सभी की भलाई के लिये स्थापित आम कार्य-मंडली है। इसलिये सभी आदमी को अपनी योग्यता के अनुसार उसकी मदद करनी चाहिये। यह स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त हमारी न्याय-भावना से सम्बन्धित है। कुछ भ्रम "देने की योग्यता" के तात्विक अर्थ के सम्बन्ध में है। व्यक्ति की योग्यता को किस तरह मापा जाता है? पहले समझा जाता था कि माल-दौलत का स्वामित्व ही योग्यता का सूचक है। जिसके पास अधिक माल-दौलत है उसे अधिक कर देना चाहिये। परन्तु बहुत शीघ्र यह अनुभूत किया गया कि माल-दौलत योग्यता की कसौटी नहीं है। यह पता लगा कि ऐसे बहुत आदमी हैं जिनके पास काफी आमदनी है, परन्तु माल-दौलत नहीं। कोई अपने परिश्रम द्वारा काफी आमदनी अर्जित कर सकता

है, परन्तु उसके पास कोई माल-दौलत नहीं हो सकती। उदाहरण के लिये कोई डाक्टर बहुत आमदनी कमा सकता है, परन्तु उसके पास कोई दौलत नहीं हो सकती। वह कर देने की योग्यता से सम्पन्न है परन्तु यदि माल-दौलत को योग्यता की कसौटी मान लिया जाय तो उसे कोई कर ही नहीं देना पड़ेगा। आगे चलकर खर्च (Expenditure) को कर देने की योग्यता का सूचक माना गया। जो अधिक खर्च करते हैं उनको कर देने की अधिक क्षमता होती है। अतः व्यय को योग्यता की कसौटी माना गया। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो जान पड़ेगा कि यह कसौटी भी भ्रामक है। कोई आदमी बड़े परिवार के कारण बहुत खर्च कर सकता है। दूसरा आदमी अकेला ही हो सकता है और इसलिये वह परिवार वाले आदमी से कम खर्च करेगा। यदि व्यय को कसौटी मान ले तो पहले आदमी को दूसरे आदमी से अधिक कर देना पड़ेगा जो कतई माह्य नहीं है। इसमें न्याय और समता का भाव नहीं है। लार्ड स्टैम्प के अनुसार Expenditure tax प्रतिगामी (रिग्रेसिव) होता है और यह अर्जित आय और संग्रहीत आय में कोई भेद नहीं करता, जो ठीक नहीं। यह विशिष्ट सामर्थ्य का ख्याल नहीं करता। इसके बरतने में शासन-सम्बन्धी असुविधाएँ हो सकती हैं। अन्त में यह तय किया गया कि आमदनी ही कर चुकाने की योग्यता का सूचक है। जिसे अधिक आमदनी प्राप्त हो उसे अधिक कर देना चाहिये और जिसे कम आमदनी मिले उसे कम कर। फिर भी यह विचार किया गया कि मुद्रागत आमदनी योग्यता की कसौटी नहीं है। दो आदमियों में से प्रत्येक बराबर ही आमदनी प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु प्रत्येक की योग्यता विभिन्न होगी। अगर उनमें से (मान लीजिये) एक अविवाहित हो और दूसरा परिवार वाला, स्त्री-बच्चे वाला तो स्पष्टतया: दूसरा आदमी पहले आदमी से एक ही कर देने में कम समर्थ होगा। दूसरा उदाहरण भी स्पष्ट है। मान लीजिये दो आदमियों को बराबर आमदनी ही मिलती है, परन्तु एक आदमी अपनी पूँजी से उसे पाता

है, दूसरा आदमी परिश्रम करके। इसलिये पहले आदमी की योग्यता दूसरे आमदनी से अधिक है और वह अधिक कर दे सकता है। स्टैम्प महोदय ने पाँच बातों को विचारने की सलाह दी है—(१) अवधि—जिसमें आमदनी हासिल की गई। (२) आमदनी में से हमें पूँजी की घिसावट के लिये और मरम्मती के लिये कुछ निकाल देना चाहिये। (३) क्या वह आमदनी मिहनत करके प्राप्त की गई है या पूँजी के द्वारा? यदि आत्म-परिश्रम के द्वारा प्राप्त की गई है तो हमें उससे कम कर काटना होगा। (४) परिवार का साईज—जिसका परिवार बड़ा हो उसे कम कर लगना चाहिये। (५) आमदनी में बचत होती है कि नहीं? यदि बचत नहीं होती है तो कर कदापि नहीं लगना चाहिये। लेकिन भारत में अत्यबादी की समस्या होते हुए भी विवाहित प्रोफेसरों को अविवाहित प्रोफेसरों से जो बीस रुपए अधिक दिए जाते हैं वह समझ में नहीं आता क्योंकि यह अधिक रकम तो विवाह करने और बाद में बच्चों की प्रचुर उत्पत्ति करने में प्रोत्साहन देने के तुल्य है।

ऊपर निःस्व (Objective) दृष्टि से योग्यता का विचार किया गया है। अब हमें व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) दृष्टि से उसपर विचार करना है। योग्यता के साथ परित्याग का भी भाव है। कर देने के साथ परित्याग की भाव भी लगा है। परित्याग को दो भागों में बाँटा गया है—परित्याग को समता और न्यूनतम या अल्प सामूहिक परित्याग की समता के सिद्धान्तानुसार कर इस प्रकार लगाना चाहिये कि प्रत्येक आदमी के द्वारा किया गया परित्याग बराबर हो। इसके अनुसार प्रगतिशील कर-प्रणाली की बड़ी महत्ता है। परन्तु कर देने से व्यक्तिगत क्या नुकसान होता है इसका निर्णय करना कठिन है।

"न्यूनतम सामूहिक परित्याग" के सिद्धान्त के अनुसार कर की प्रणाली का प्रबन्ध इस प्रकार करना चाहिये कि कर देने वालों

के द्वारा जो सामूहिक परित्याग किया जाय वह बहुत ही कम हो। प्रत्येक कर-प्रणाली का यह उद्देश्य है कि उससे समाज का सबसे अधिक हित हो और यह उसी समय होगा जब समाज का कुल परित्याग न्यूनतम हो। यही इस सिद्धान्त की सार्थकता है। यह सिद्धान्त मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता पर टिका हुआ है। आमदनी जितनी ही अधिक होती है मुद्रा की उपयोगिता उतनी ही कम। जब आमदनी सबसे अधिक होती है तब अन्तिम मुद्रा से जो उपयोगिता प्राप्त होती है वह सबसे कम होती है। बड़ी आमदनियों पर ही कर लगाया जाय तो परित्याग की मात्रा न्यूनतम होगी। इसलिये राज्य को सबसे बड़ी आमदनियों पर ही पहले कर लगाना चाहिये। इस प्रकार जो आमदनी हो उससे अपनी आवश्यकताएँ पूरी करनी चाहिये। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक आदमी को कर देने की जरूरत नहीं। यदि इस सिद्धान्त को अमल में लाया जाय तो कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। पहली कठिनाई तो यह है कि इससे बचत कम हो जाएगी और लोगों की काम करने की इच्छा कम हो जाएगी। यदि एक हद के बाद आमदनी पर कर लगया जाय तो लोग उस हद के बाद की आमदनी को प्राप्त करने की कोशिश ही नहीं करेंगे। इस तरह कर धीरे-धीरे घटता ही जायगा और कम ही कम आमदनी पर कर लगाया जाएगा। देश की भावी पूँजी घट जायगी। इसके प्रतिफल राष्ट्रीय आमदनी भी कम हो जायगी। अतः राज्य को कर इस प्रकार लगाना चाहिये कि उसका भार धनिकों पर अधिक नहीं पड़े। यदि कर का बहुत भार उनपर पड़ेगा तो वे लोग काम करना और बचतें इकट्ठा करना दोनों कम कर देंगे। सरकार को कर का भावी और वर्तमान असर को ही विचार में लाना होगा।

"In the Laws of Manu the King is Counselled to tax little by little, as the leech, the calf and the see take their food."

कर के कुछ दूसरे सिद्धान्त ये हैं :
(Other Principles of Taxation)

(NeutralTax System)

(१) 'जिस तरह हैं उसी तरह रहने दो'
(२) राजनैतिक या न्यायपूर्ण सिद्धान्त
(३) अर्थ-संबंधी सिद्धान्त
(४) समाजवादी सिद्धान्त
(५) 'प्रत्येक व्यक्ति को कुछ कर देना चाहिये'
(६) कर को खालिस संतुष्टि के बराबर बनाना चाहिये
(७) खपत का इन्तजाम करने के लिए कर का सिद्धान्त

कर लगाने के ढंग
(Methods of Taxation)

कर लगाने के चार ढंग हैं। वे ये हैं :
(१) आनुपातिक (Proportional)
(२) प्रगतिशील (Progressive)
(३) प्रतिगामी (Repressive)
और (४) ह्रासमान प्रगतिशील (Degressive)'

(१) आनुपातिक कर में प्रत्येक आमदनी से बराबर दर पर कर लिया जाता है। यदि कर की दर ४ रु० प्रति सैकड़ा हो तो ५०० रु० का कर २० रु० हुआ और १५०० रु० का ६० रु०।

(२) प्रगतिशील कर में कम आमदनी पर कर बहुत कम लगता है और जैसे-जैसे आमदनी बढ़ती जाती है वैसे-वैसे कर की दर भी बढ़ती जाती है। यदि ५०० रु० तक ४ रु० प्रतिशत कर लगे और १०००० रु० तक ६ रु० प्रतिशत तो कर की प्रणाली प्रगतिशील कही जायगी।

(३) प्रतिगामी कर प्रणाली में आमदनी ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों कर की दर कम होती जाती है। ऊपर के उदाहरण में यदि १०००० रु० तक ३ रु० प्रतिशत कर लगे तो कर की दर अप्रगतिशील कही जाएगी।

(४) ह्रासमान प्रगतिशील कर-प्रणाली के अनुसार कर आमदनी के बढ़ने के साथ बढ़ता जाता है, परन्तु बढ़ने की दर धीरे-धीरे घटती जाती है। ऊपर के चार ढंगों में पहले दो ढंग ही काम में लाये जाते हैं।

आनुपातिक कर-प्रणाली

(Proportional Tax System)

इस कर-प्रणाली के अनुसार सभी आदमियों को समान दर में कर देना पड़ता है। १६वीं सदी के एक आलोचक के मतानुसार यदि इस प्रणाली को छोड़ दिया जाय तो समुद्र में बिना पतवार और कम्पास के चलना होगा और सभी तरह के अन्यायों का भय होगा। दूसरे आलोचक ने प्रगतिशील कर को डाका के समान बतलाया है। लोग यह मानते थे कि कर का ध्येय विद्यमान सामाजिक सम्पत्ति-वितरण में बाधा डालना नहीं। यदि लोग एक ही दर से कर दें तो विभिन्न आमदनियों के बीच का लगाव बाधित नहीं होगा। यदि यह मान लिया जाय कि आमदनी और आर्थिक हित का संबंध सभी कर देने वालों के लिये एक-सा हो तो परित्याग की समानता के आधार पर इस सिद्धान्त का समर्थन किया जा सकता है। मुद्रागत आमदनी ही किसी की समर्थता की द्योतक नहीं है। कर लगाते समय हमें दूसरी बातों पर भी विचार करना होगा।

इस प्रणाली की विशेषता यह है कि यह बहुत ही सरल है। जैसा कि से ने कहा है, आनुपातिक कर-प्रणाली की व्याख्या

करने की आवश्यकता नहीं है। वह एक पहाड़े के समान है। परन्तु इसका अवगुण यह है कि यह विषम है। यह उत्पादनशील भी नहीं। इसमें मनमाना भी हो सकता है। १००० रु० में १०० रु० कर लेना और १०,००० रु० में १००० रु० कर लेना दोनों बराबर नहीं है। आमदनी ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों अधिक कर देने की योग्यता भी बढ़ती जाती है।

प्रगतिशील कर-प्रणाली
(Progressive Tax System)

यह प्रणाली समता की भावना पर स्थिर है। इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :—

(१) योग्यता या समर्थता के सिद्धान्त के अनुसार किसी व्यक्ति को अपनी समर्थता के अनुकूल कर देना चाहिये। यह समर्थता आमदनी की बढ़ती के साथ बढ़ती है और बढ़ती की गति अधिक तेज होती है। इस दृष्टि से अधिक आमदनी पर कर भी अधिक लगना चाहिये।

(२) जिन्हें अधिक आमदनियाँ प्राप्त होती हैं, उन्हें कुछ द्रव्य बचाने का भी मौका मिलता है। कर भी बचाए धन पर ही लगना चाहिये। इसलिए प्रगतिशील कर के अनुसार यदि अधिक आमदनी पर अधिक कर लगे तो कुछ बुरा नहीं होगा। बचत पर जो कर लगाया जाता है उसका प्रभाव कर देनेवाले पर ही पड़ता है और दूसरे आदमी के ऊपर उसका बोझ नहीं डाला जा सकता है।

(३) आमदनी जितनी ही अधिक होगी आगे के उत्पादन की शक्ति उतनी ही बड़ी होगी, इस तरह समाजगत विषमता बढ़ती ही जाती है।

(४) वर्तमान सम्पत्ति का विभाजन अन्यायपूर्ण है। धनी लोग चैन और सुख से दिन बिताते हैं और गरीब लोग नाना प्रकार की

तकलीफें सहते हैं। इसलिए आमदनियों पर प्रगतिशील दर से कर लगाना चाहिये।

(५) न्याय की दृष्टि से सभी मजबूत कंधों को ही अधिक बोझ ढोना चाहिये जिससे कमजोर आदमी को राहत मिले।

(६) इससे आमदनी बहुत ही अधिक होती है। यह उर्वर है।

(७) यह किफायती भी है।। कर को इकट्ठा करने का व्यय कम होता है।

(८) इस प्रणाली में परिवर्तन करना सहज है। इसमें लोच का पुट है।

(९) मीड ने इसका समर्थन बेकारी को कम करने में सहायक बतलाया है। †

इस प्रणाली के विरुद्ध निम्नलिखित कारण प्रस्तुत किए जाते हैं :—

(१) इससे वर्तमान सम्पत्ति वितरण की प्रणाली को गहरी चोट पहुँचेगी। इससे समाजवादी साम्राज्य का जन्म होगा। परन्तु यदि हम उत्तम ढंग से इस पद्धति को अपनायें तो यह आशंका दूर हो सकती है।

(२) यदि वर्तमान सम्पत्ति वितरण का सिलसिला ठीक नहीं है तो इसका संशोधन भारी करों के द्वारा नहीं होना चाहिए, क्योंकि इससे अन्तत: राष्ट्रीय पूँजी घट जायगी। इसके लिए रचनात्मक और प्रत्यक्ष ढंग काम में लाना चाहिए।

(३) इस प्रणाली में मनमानी हो सकती है। अर्थमंत्री कर की दर को किसी निश्चित और वैज्ञानिक आधार पर नहीं ठीक करता। यह उसका व्यक्तिगत मत है। उसकी इच्छा, अनिच्छा पर कर की

† "A diminution in equality of income brought about by a heavy and highly progressive Tax System will reduce the proportion of income saved and for this reason it will help to reduce unemployment and stimulate activity (J. E. Meade)

रूप-रेखा निर्भर करेगी। इसलिए प्रगतिशीलता का अंश (degree) निरंकुश (arbitrary) हो सकता है।

(४) कुछ लेखकों का विचार है कि प्रगतिशील दर से जो आमदनी होगी वह आनुपातिक दर से प्राप्त आमदनी से कोई बेशी नहीं होगी। पर उनका यह कथन भ्रमपूर्ण है। यह अनुभव की बात है कि दर को थोड़ा-सा भी बदल देने से आमदनी की रकम बढ़ सकती है। इसलिए आनुपातिक कर प्रणाली की अपेक्षा प्रगतिशील कर प्रणाली अधिक अच्छी है।

(५) कुछ लोग कहते हैं कि भलाई बढ़ाने के ख्याल से ही प्रगतिशील कर-प्रणाली का समर्थन नहीं किया जा सकता क्योंकि भलाई तो व्यक्तिनिष्ठ शब्द है। उसे मापना सहज नहीं है। आमदनी की विषमता दूर होने से भलाई बढ़ जायगी, ऐसा दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता। इस तर्क के विरुद्ध हम कह सकते हैं कि भले ही भलाई को नहीं नापा जा सके, फिर भी सामाजिक दृष्टि से यह जरूरी है कि धनी लोग गरीब से अधिक कर दें।

(६) यह कहा जाता है कि इस प्रणाली से कर लेने पर लोग गलत हिसाब-किताब रखेंगे। यह तर्क भी ठीक नहीं है क्योंकि आनुपातिक कर-प्रणाली में भी लोग ऐसा कर सकते हैं। यदि अफसर इन्तजाम और जाँच-पड़ताल से काम लें तो इस प्रकार की अव्यवस्था नहीं उत्पन्न हो सकती है। ठगने और धोखा देनेवालों को सजा दी जा सकती है।

(७) यह कहना कि एक ही आमदनी से बराबर ही संतोष प्राप्त होता है, ठीक नहीं। मुद्रा एक ही चीज की नहीं, कई चीजों का प्रतिनिधित्व करती है। मानवीय इच्छाओं का अन्त नहीं। इसलिए यह कहना कठिन मालूम होता है कि क्या बड़ा आमदनीवाला आदमी दूसरे रुपयों को कम महत्व देता है।

(८) एक दूसरे अर्थशास्त्री ने लिखा है, "Progressive taxation is the reverse of taxation according to ability, for ability comes with the receipt of

income and goes with its spending or other disposition" ।

इस प्रकार प्रगतिशील कर-प्रणाली के पक्ष और विपक्ष के कारणों को देखकर हम कह सकते हैं कि यह प्रणाली अच्छी है और इसे अपनाने से धनाय का भाव आ सकता है और जनहित की उन्नति हो सकती है। एच० एम० ग्रोव्स ने लिखा है, "To some persons progressive taxation is merely a demagogic attempt to 'soak the rich'; to others it is an essential of democratic government."

सप्तम अध्याय

परिशिष्ट

(Appeddix)

प्रगतिशील करनीति और परित्याग या सामर्थ्य सिद्धान्त का विवेचन

(Progressive Taxation and Analysis of Sacrifice or Ability Theory)

हम पीछे अदम स्मीथ कथित सामर्थ्य-सिद्धान्त का उल्लेख कर आए हैं। उसमें अदम स्मीथ ने बतलाया था कि प्रत्येक राज्य के नागरिकों को अपनी व्यक्तिगत सामर्थ्य के अनुसार राज्य को कुछ कर देना चाहिए। स्मीथ ने 'Ability' शब्द का प्रयोग किया था। लेकिन उसके साथ अनुपात—Proportion—शब्द का भी प्रयोग हुआ है। आलोचक-वृन्द स्मीथ को प्रतिगामी कहते हैं, लेकिन स्मीथ ने दूसरे स्थल में 'प्रगतिशीलता' का भी समर्थन किया है। लार्ड स्टाम्प ने बतलाया है कि स्मीथ का "सामर्थ्य-सिद्धान्त" नागरिक और राज्य के बीच के स्थिर संबंध का द्योतक है।

सामर्थ्य-सिद्धान्त ने आगे चलकर प्रगतिशील कर-नीति की बुनियाद डाली। जायदाद और आमदनी दोनों को करदाता की सामर्थ्य का निर्धारक माना गया। जे० एस० मील ने इस वस्तुनिष्ठ आधार को व्यक्तिनिष्ठ आधार में परिणत किया और परित्याग को सामर्थ्य का निर्णायक कहा। उसने परित्याग की समता पर जोर देते हुए लिखा "Equality of taxation as a maxim of politics means equality of sacrifice"।

स्टाम्प ने सामर्थ्य को आधुनिक मापक मौद्रिक प्रसाधन बतलाया है, लेकिन उनका कथन है कि गर्व और दर्प की भावना का भी हाथ सामर्थ्य के निर्धारण में है। उनके अनुसार सामर्थ्य की जाँच छव तत्त्वों से है—(१) कितना धन अर्जित किया जाता है (२) कितने समय में (३) आर्थिक आय है या विशुद्ध आय (४) आय स्थिर है या अस्थिर (५) पारिवारिक अवस्थाएँ कैसी हैं (६) क्या आय में से कुछ बचता है ?

इस सिद्धान्त के मुताबिक कर देने की सामर्थ्य (Taxable Capacity) ही आधार-वस्तु है। यह न्याय सम्मत विचार भी जान पड़ता है। लेकिन इस सामर्थ्य को ठीक-ठीक नापना सहज नहीं। इसके दो आधार हो सकते हैं—वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ। वस्तुनिष्ठ आधार के जो छव तत्त्व हैं वे ऊपर वर्णन किए जा चुके हैं। व्यक्तिनिष्ठ आधार का अर्थ है कि कर देने पर या देते समय किसी व्यक्ति को क्या असुविधा, मनोव्यथा होती है या कौन-सा परित्याग करना पड़ता है।

परित्याग वैयक्तिक वस्तु है। लेकिन परित्याग और वास्तविक कष्ट में फर्क है। शराब पर कर लगाने से जो परित्याग करना पड़ता है उससे व्यक्ति को कोई वास्तविक कष्ट नहीं उठाना पड़ता। उसे परोक्ष रूप से लाभ ही होता है। आय सामर्थ्य की सबसे अच्छी पहचान है। लेकिन एच० एम० ग्रोम्स ने लिखा है कि कर देने की सामर्थ्य बहुत ही व्यापक वाक्यांश है और कई आदमी उससे कई अर्थ निकाल सकते हैं। इस सिद्धान्त की खूबी यह है कि यह आनुपातिक या प्रगतिशील या विशिष्ट कर के समर्थन में लगाया जा सकता है।

परित्याग एक मनोवैज्ञानिक वस्तु है। जो आदमी भौतिक वृत्तिवाला है उसे कोई कर देते समय अधिक कष्ट हो सकता है। जो आदमी आध्यात्मिक वृत्तिवाला है उसे समान रकम का कर देते समय कष्ट हो सकता है।

क्रमागत सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के आविष्करण के अनन्तर सामर्थ्य-सिद्धान्त की प्रसिद्धि बढ़ी। इस नियम के अनुसार एक सीमा के बाद आमदनी में ज्यों-ज्यों अधिक वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों उसकी उपयोगिता कम होती जाती है और एक बिन्दु के बाद मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती है। उसके बाद प्राप्त होनेवाली आमदनी की उपयोगिता ऋणात्मक होगी। अतएव वैसे लोगों की आयों पर कर लगाना अच्छा होगा, उन्हें कम परित्याग करना होगा जिनके पास एक सीमा के बाद की आय है। लेकिन इस सिद्धान्त की दो प्रधान त्रुटियाँ हैं—(१) हम किस तरह उस सीमा का निर्धारण कर सकते हैं जिस सीमा के बाद होनेवाली आय को कर में ले लेने पर कम परित्याग करना होगा। (२) धनी से धनी आदमी की सभी इच्छाएँ संतुष्ट नहीं हो गई रहतीं। उन्हें अधिकाधिक आय की लालसा रहती है। वैभव की वृद्धि आग में होम-सा काम करती है। ऐसी दशा में मुद्रा की क्रमागत सीमान्त उपयोगिता का नियम असफल हो जाता है। केनड्रिक ने लिखा है, "There can be too much of any one thing but there can't be too much of all things."।

लेकिन समाज ही सच्चा निर्धारक है। सामर्थ्य का सिद्धान्त वैयक्तिक विचार के स्थान में सामाजिक विचार को प्रस्थापित करता है। यह तो समाज को सोचना है कि "अ" का समाचार-पत्र खरीदना और दाँत की दवा करना जरूरी है या 'ब' का एक दूसरा 'कार' खरीदना। इससे स्पष्ट है कि धनिकों के विरुद्ध पाँसा फेंकना जरूरी है। (The dice should be loaded against the rich. The purchasing power shunted into the hands of the state would be of immense help.)

परित्याग के सिद्धांत को तीन भागों में बाँटा गया है—समान परित्याग, आनुपातिक परित्याग और न्यूनतम परित्याग। समान परित्याग का मतलब है—एक करदाता का आर्थिक स्थान द्वितीय

करदाता के आर्थिक स्थान की तुलना में गड़बड़ न हो। आनुपातिक परित्याग का मतलब है कि जो आदमी अधिक कर दे सकता है वह अधिक कर दे। न्यूनतम परित्याग का अर्थ है कि सामाजिक परित्याग सबसे कम हो। कर की पद्धति को कष्टदायी नहीं होना चाहिये। इसे पूँजी-संग्रह को हतोत्साह नहीं करना चाहिये। उसका प्रभाव उद्योग और व्यापार पर अहितकर न पड़े। इस दृष्टि से लाभ प्राप्ति या सेवा प्राप्ति का सिद्धांत उचित नहीं जँचता। कर की प्रणाली अपने कुछ अंशों में असमान होकर भी सम्पूर्णरूप से समान रह सकती है। लेकिन समानता—Equrity—की भावना अर्थशास्त्रियों के लिये सिर दर्द का काम करने वाली है। यह मत-मतान्तर पर निर्भर करती है। इसीलिये डाल्टन ने लिखा है कि यह एक ऐसी रमणी की भाँति है जो जल्दी से चंगुल में नहीं फँस सकती। दार्शनिक उसका पीछा कर सकते हैं लेकिन अर्थशास्त्र चुपचाप बैठकर अवलोकन कर सकते हैं।

स्टैम्प ने लिखा है कि प्रगतिशीलता की भावना का कर-नीति में समावेश करने का श्रेय प्रो० सेलीगमैन को है। न्यूमैन और एस कुलॉच प्रगतिशील कर के आलोचक हैं। उनका दावा है कि आमदनी के बढ़ने से बढ़ी आमदनी की उपयोगिता बढ़ जाती है।

लेकिन प्रगतिशील कर के पीछे नैतिक और राजनीतिक तर्क का जोर है। यह समाज में समानता स्थापित करने का एक साधन है। इसीलिये लूदज का कहना है कि प्रगतिशील कर-प्रणाली के समर्थन में जो तर्क दिये जाते हैं उनको दो खंडों में रखा जा सकता है—प्रयोग-पक्ष (समतावादी) के तर्क और प्रभाव पक्ष (समाजवादी) के तर्क "Progressive Taxation is ethically sound, socially desirable, and conforms to the canons of economy, productivity and elasticity". हॉब्सन को आर्थिक सिद्धांत में "Rental conception" लाने का श्रेय है। उसका मतलब है आर्थिक बचत पर कर लगाना। "A progressive

income-tax in a rough way is taxation on the pirnciple of surplus." । प्रो० सेलीगमैन ने प्रगतिशील कर का डाक्टर पी० सी० जैन ने बतलाया है कि हम सार्वजनिक अर्थ नीति का अध्ययन उपयोगिता की माप्यता की असंभवनीयता को मानकर भी कर सकते हैं। उनका कथन प्रो० डे विटी के विश्लेषण के ऊपर आधारित है। प्रो० डे विटी ने बतलाया है कि प्रगतिशील कर-नीति बिना इस मान्यता के भी कि मुद्रा की सीमान्त इकाई की उपयोगिता धनी व्यक्ति के लिये गरीब व्यक्ति की अपेक्षा कम है न्यायोचित कही जायगी। इस कथन (Contention) के समर्थन में दो तर्क दिये जाते हैं। पहला तर्क तो यह है कि प्रत्येक मानव को न्यूनतम इच्छाएँ होती हैं और चूँकि हमारी संस्थाएँ मानव-सृष्ट हैं इसलिए कोई ऐसा कारण नहीं जिससे धनिकों को अपनी सारी इच्छाओं को संतुष्ट करने दिया जाय जब कि गरीब लोगों को अपनी जिन्दगी की मामूली आवश्यकताओं की संपूर्ति करने से वंचित रखा जाता है। खर्च करने की शक्ति का आवश्यक हस्तान्तर धनिकों पर प्रगतिशील दर से कर लगाकर और कर से हुई आमदनी को गरीबों की भलाई में खर्च करके बड़ी आसानी से किया जा सकता है। दूसरा तर्क यह है कि प्रगतिशील कर-नीति आदर्श (चरम ऑपटिमम) उत्पादन और तदर्थ न्यूनतम लागत पर उत्पादन करने की अवस्थाओं को उपलब्ध करने में सहायता पहुँचाती है। ये दोनों तर्क प्रगतिशील कर-नीति का पूरी तरह से समर्थ करते हैं। प्रो० सेलीगमैन ने प्रगतिशील कर-प्रणाली का अनुमोदन करते लिखा है कि इसकी श्रेष्टता इस बात में है कि यह धन और आय के और अधिक विषम, वितरण होने से बचाता है और प्रस्तुत विषमता को कम करता है। प्रो० टॉसिग ने इस कर का समर्थन तो किया है लेकिन उनका विचार है कि इससे समाज में पक्की समता स्थापित नहीं हो सकती। हमें विषमता के कारणों को दूर करना होगा—शिक्षा का प्रचार करना होगा, सबको व्यक्तित्व

के विकास के लिए समान अवसर प्रदान करना होगा। लार्ड केन्स ने प्रगतिशील करनीति का समर्थन इसलिये किया है कि उससे समाज की प्रभावोत्पादक माँग बढ़ती है और पूर्ण रोजी कायम होती है। उससे प्राप्त राजस्व को इसके मद में खर्च किया जा सकता है।

प्रो० पीगू ने प्रगतिशील कर का विरोध तो नहीं किया है, लेकिन उनको इस बात से चिढ़ है कि समाज में न्याय, आदि के साधनों द्वारा भी समता कायम करने की कोशिश न करके क्योंकर केवल कर द्वारा ऐसा किया जायगा।

निकोलसन ने प्रगतिशीलता का समर्थन करते हुए एक सीमा के नीचे की आमदनियों को कर से मुक्ति देने की बात कही है। तभी सामर्थ्य-सिद्धान्त का पूरा निर्वाह हो सकता है—"The modern concept of the Faculty theory allows for the exemption of a certain minimum for economic reasons that taxation which diminishes the general efficiency of labour diminishes the whole faculty of the state."।

लार्ड स्टैम्प ने प्रगतिशील कर नीति को श्रेष्ठ कहते हुए एक चेतावनी दी है कि उसका प्रयोग सावधानी के साथ होना चाहिए क्योंकि वह दुधारी तलवार की तरह है। उसका अति-प्रयोग करने से सामाजिक और आर्थिक अन्याय हो सकता है। सेलीगमैन ने भी बतलाया है कि इस नीति का क्रियात्मक रूप देना जरा कठिन है।

जो कुछ भी हो, आधुनिक सार्वजनिक अर्थनीति में प्रगतिशील करों का पूरा समावेश हुआ है और इससे समाज की भलाई भी हुई है। इसलिए एजवर्थ ने लिखा है कि न्यूनतम परित्याग का सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है और पीगू ने बतलाया है कि सामर्थ्यानुसार कर लगाने का एकमात्र उपाय न्यूनतम परित्याग को आधार मानना है। (The principle of minimum

sacrifice is the sovereign principle—Edgeworth. "For reaching ability the principle of minimum sacrifice is the only ultimate principle." महाशया उरशूला हिक्स भी कर देने की सामर्थ्य सिद्धान्त और प्रगतिशील कर-पद्धति का समर्थन करती हैं और बतलाती हैं कि अधिकतम सामाजिक उपयोगिता (Optimum Social Utility) और सामाजिक न्याय की उपलब्धि के लिये वे अनिवार्य हैं। यदि धनिकों और गरीबों से बराबर कर लिया जाय तो यह उचित नहीं, शठता (Impunity) है और सामर्थ्य-सिद्धान्त का गला घोंटना है।

अधिकतम सामाजिक लाभ बनाम न्यूनतम सम्पूर्ण परित्याग (Maximum Social Advantage vs Minimum Aggregate Sacrifice)

प्रत्यक्ष रूप में अधिकतम और न्यूनतम में विरोध है। न्यूनतम की परिभाषा करना आसान है। कष्ट और त्याग की अनुभूति को न्यूनतम होना चाहिये। अधिकतम को यथार्थवाद की परिधि में नहीं ला सकते। यह सापेक्षिक और काल्पनिक होता है। समाज चंदा मामा के लिये, स्वर्णयुग के लिये, चिल्ला सकता है, लेकिन सरकार उसकी इच्छा को पूरा करने में असमर्थ हो सकती है। एक अर्थशास्त्र-विदुषी महाशया बरबरा उटन से अधिकतम की सापेक्षता के बारे में सुनिये—"यदि कोई सोचता हो कि उसकी पत्नी सबसे अधिक रूपवती है तो वह गलती में है। दुनिया में ऐसी बहुत-सी कामनियाँ हो सकती हैं जो उसकी पत्नी से अधिक रूपवती होती हुई भी उसकी पत्नी नहीं बन सकीं!"—अधिकतम तो अलभ्य है। पीगू के शब्दों में "बहुत ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ हो सकती हैं। उनमें एक पहाड़ी का शीर्ष-बिन्दु शेष पहाड़ियों के शीर्ष-बिन्दुओं से ऊँचा हो सकता है लेकिन उस शीर्ष-बिन्दु के इर्द-गिर्द कुछ ऐसे शीर्ष-बिन्दु भी हो सकते हैं जो अन्य पहाड़ियों के उच्चतम शीर्ष-बिन्दु से ऊँचे हों।

इनमें से कोई शीर्ष-बिन्दु अनजान आदमी के लिये उच्चतम प्रतीत होगा।"

हमारे विचार से न्यूनतम परित्याग के सिद्धान्त में कुछ प्रत्यक्ष और वस्तुनिष्ठ आधार हैं लेकिन अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त में वे मौजूद नहीं। (The Principle of minimum Sacrifice provides certain objective criteria which are absent in the doctrine of maximual Social Advantage) न्यूनतम परित्याग का सिद्धान्त एक साधन है'। यह स्पष्ट और लक्ष्य है। इसका व्यावहारिक जीवन में उपयोग हो सकता है। यह क्रमागत सीमान्त उपयोगिता ह्रास के सिद्धान्त पर आधारित है जो बतलाता है कि धनी आदमी के पास की एक मुद्रा की उपयोगिता दरिद्र आदमी के पास की एक मुद्रा की उपयोगिता से कम है। यह सिद्धान्त प्रगतिशील कर नीति का समर्थन करता है और धनिकों पर विशेष कर लगाने की स्वीकृति देता है। हम पीछे इसके व्यक्तिनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ आधारों के बारे में लिख चुके हैं। परित्याग सामर्थ्य से संबंधित है और सामर्थ्य किसी व्यक्ति की कर देने की क्षमता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की तुलना में इसका आश्रयण ले सकता है। अभी तक भी कुछ सरकारें पुराना राग अलापती जा रही हैं—"Pluck the goose with the least squealing"। इस सिद्धान्त की विशेषता है कि यह देश की आय के वितरण, बनावट और स्वभाव पक्षों पर अपना मत प्रकाशित करता है और तटस्थ रहना नहीं चाहता। यह समाज में आय के विषम वितरण पर अपना परशुरामी फरसा चलाता है। कर लगाने का यह सर्वोत्तम ढंग है। प्रगतिशीलता इसका अविच्छेद्य अंग है। यह समस्त कर-प्रणाली का विचार करता है और व्यक्ति-व्यक्ति के बीच कर-वितरण का अध्ययन करता है। यह कर-प्रणाली के कतिपय भागों में संतुलन स्थापित करता है। एक भाग के अन्याय को दूसरे भागों के अधिक

न्याय से दूर करता है। मौद्रिक साधनों और आर्थिक भलाई के बीच का लगाव है, यही इस सिद्धान्त का केन्द्र-बिन्दु है। (It is the totality of effects that matters) †

अधिततम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त अधिकतम संतोष के सिद्धान्त का विस्तृत, व्यापक रूप है। यह यथेष्ठ उपयोगितावादी

---

† In Public finance, by contrast, we have to assign a positve role to the State. But this presents a difficulty to us for we cannot lay down in precise lines a code of certain behaviour. Nevertheless, cold neutrality to the acceptance of the State's role amounts to the wrecking of the useful and benevolent fabric of the communal good or welfare. That will magnify our fears instead of minimising them. We have just started to live on the threshold of a new sentiment and conscious era which has reached so favourably to socialistic ideas and which is, in essences, the harbinger of a millennium which is anxiously envisaged. The Principle of Proportional taxation is a sordid and jarring discordant note and as such forfeits our cordiality, our response. The benificence of public outlay has reinforced its superiority over private outlay. Not piecemeal changes, neither palliatives can gain the purpose but radical changes alone can dissipate and dispose of our numerous ills. (Quoted from the Author's article in English)

धारणा का सूचक है। इसके अनुसार राज्य-कोष में आने वाले अन्तिम रुपये की उपयोगिता व्यक्तिगत कोष में छोड़े अन्तिम रुपये की उपयोगिता तथा कर लगाने की अनुपयोगिता और सार्वजनिक व्यय की उपयोगिता, दोनों बराबर हों। व्यक्तिगत जीवन में अधिकतम लाभ या संतोष का सिद्धान्त बिना झंझट के चरितार्थ होता है। लेकिन सार्वजनिक अर्थनीति में अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के चरितार्थ होने में कुछ झंझट है। राज्य राजनीतिज्ञों का एक समुदाय ठहरा। इन्हें सार्वजनिक कार्य करना पड़ता है। उसे करते समय वे वैसी सफाई और सचाई के साथ आचरण नहीं कर सकते जिसके साथ वे अपने व्यक्तिगत जीवन में है। यह ठीक है कि, कुछ ऐसे आधार हैं जिनपर यह सिद्धान्त खड़ा है और इन आधारों का पूरा उपयोग किया जा सकता है। लेकिन ये आधार लचर हैं। आर्थिक भलाई, भीतरी और बाहरी निरापदता, निपुणता की वृद्धि, आदि आधार-तत्त्व (जो इस सिद्धान्त में आते हैं) दिमाग को चकरानेवाले हैं। उनका एक अर्थ नहीं। भूत और वर्तमान की आवश्यकताओं का निर्धारण भी ठीक तौर से नहीं हो सकता। सार्वजनिक राजस्व और व्यय की नीति के प्रभावों का यथातथ्य उल्लेख करना असंभव है। "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" की बात है। (The State has not a single consolidated mind. This is an obtrusive difficulty)

लेकिन एक बात है जो निस्सन्देह ग्राह्य कही जा सकती है। वह यह है कि जहाँ अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त सार्वजनिक अर्थनीति के व्यय-पक्ष की कसौटी है वहाँ न्यूनतम सम्पूर्ण परित्याग का सिद्धान्त उसके आय-पक्ष की कसौटी है और अपने-अपने क्षेत्र में प्रत्येक का निर्विरोध-व्यवहार हो सकता है।

—o:(:o:):o—

अष्टम अध्याय

कर की प्रणाली की कुछ समस्याएँ

(Some Problems of the Tax System)

एक कर बनाम अनेक करों वाली प्रणाली

(Single Tax vs Multiple Tax System)

राज्य अपना राजस्व दो तरहों से प्राप्त कर सकता है। वह एक ही कर लगाकर अपना समूचा राजस्व लोगों से प्राप्त कर सकता है या कई करों को लगा कर ऐसा कर सकता है। इन दिनों कर की प्रणाली को सरल बनाने की ओर लोगों का झुकाव हो रहा है। कुछ अर्थशास्त्र-वेत्ता कहते हैं कि कर केवल एक ही चीज पर लगाया जाय और समता का सिद्धान्त माना जाय। कुछ लोगों की धारणा है कि कर कई चीजों पर लगाना चाहिए। इन दो प्रणालियों में किसे स्वीकार किया जाय? फिजीयोक्रैट लोगों का विश्वास था कि सभी करों का बोझ तो आर्थिक लगान पर अन्ततोगत्वा पड़ता है। इसलिए आर्थिक लगान पर कर लगाना अच्छा होगा। यदि यह प्रणाली अपना ली जाय तो किसी समाज की सम्पत्ति का पुनर्वितरण हो सकता है। अब यह सिद्ध हो चुका है कि फिजीयोक्रैटों का विश्वास मिथ्या था और अब एक कर की प्रणाली का समर्थन कोई भी नहीं कर सकता।

हेनरी जॉर्ज ने भी एक कर की प्रणाली ही उत्तम समझी थी। उन्होंने माना था कि जमीन पर एक कर लगा देने से हमारा काम चल सकता है। जमीन पर कर लगाने से उद्योग को बाधा नहीं

पहुँचती है। यह जरूर ठीक है कि लगान पर कर लगाना उद्योग को बाधा नहीं पहुँचाता परन्तु इस सिद्धान्त की कमजोरी यह थी कि यह कर उन लोगों से नहीं मिल सकता जो जमीन में अपनी आय नहीं लगाते। लखपति भी कर से बच सकता है, परन्तु एक गरीब भी जिसे घर है कर दे सकता है। इस तरह कर के असर का सम-वितरण समाज के विभिन्न वर्गों में नहीं हो सकता है।

अर्थशास्त्र के कुछ विद्वान् केवल आमदनियों पर ही कर लगाना चाहते हैं क्योंकि आमदनी ही समर्थता की सर्वोत्तम कसौटी है। फिर भी हम इस कथन को निम्नलिखित कारणों पर स्वीकार नहीं कर सकते। (१) छोटी-छोटी आमदनियों पर कर लगाना और कर की रकमों को इकट्ठा करना कठिन है। इसमें अनुचित व्यय होगा। (२) इससे बचतें घट जायेंगी। लोग बड़े कर से उत्साहहीन होंगे। (३) ऐसा करने से कुछ ऐसे लोगों को छोड़ देना होगा जो अधिक कर देने की सामर्थ्य रखते हैं। Windfall पर कर नहीं लगाया जा सकता। (४) कर के प्रभाव का समवितरण असंभव है। (५) एक कर होने से लोग धोखा भी दे सकते हैं।

सामान्यतः एक करवाली प्रणाली के कुछ गुण हैं। इस प्रणाली के समर्थक कर-प्रणाली के एक और व्ययहीन तरीका को निकालना चाहते हैं। इस प्रणाली से इकट्ठा करने का व्यय कम हो सकता है। कर का प्रभाव ठीक तरह से जाना जा सकता है। परन्तु इस प्रणाली के बहुत दोष हैं :—(१) विभिन्न व्यक्तियों के बीच कर का जो प्रभाव पड़ता है वह एक कर होने के कारण विषम हो सकता है। (२) एक कर के कारण कितनी बुराइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। (३) आधुनिक राज्य की आवश्यकताएँ इतनी अधिक होती हैं कि एक कर की प्रणाली से उन्हें पूरा करने के लिए मोटी रकम नहीं मिल सकती। (४) इन दिनों कई करों से जो लाभ प्राप्त होता है वह एक कर के सहारे नहीं प्राप्त हो सकता है। (५) लोग चकमा भी दे सकते हैं।

एक कर की प्रणाली के क्षेत्रों को देखकर आर्थर यंग ने विविध करों की प्रणाली का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। ऐसा करने से करों का प्रभाव कितने लोगों पर पड़ने से बहुत ही हल्का होगा। परन्तु हम इस कथन को नहीं मान सकते हैं। बहुत करों को लगाने से उनको इकट्ठा करने का खर्च बहुत ज्यादा पड़ेगा। उद्योगों पर भी बुरा प्रभाव पड़ सकता है। कर देनेवालों को तकलीफ़ें उठानी पड़ेगी। †

इसलिए बढ़िया उपाय तो यही है कि न एक ही कर की प्रणाली अपनाई जाय और न अनेक करों वाली प्रणाली ही। दोनों के बीच के मार्ग को अपनाना ठीक होगा। बहुकर-प्रणाली (Plural) को ही अपनाना ठीक होगा। बहुकर-प्रणाली के प्रवर्तक बाग्डेनवल थे। धनिकों पर प्रभाव डालने वाले कुछ भारी करों को चलाना ठीक होगा। कुछ हलके करों को भी समाज के दूसरे वर्गों पर लगाना चाहिए।

अच्छी कर-प्रणाली के लक्षण
(Characteristics of a Good Tax System)

अच्छी कर-प्रणाली वही है जो ऊपर के सिद्धान्तों का अनुसरण करती हो। उसे समदर्शी होना चाहिये। सबसे सबल कंधों पर कर का प्रभाव सर्वाधिक पड़ना चाहिये। करों को इकट्ठा करने में कम खर्च पड़े और तकलीफ़ें कम हों। इससे व्यापार और उद्योग पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये। कर-प्रणाली से देश की आर्थिक उन्नति हो। बहुकर-प्रणाली का अनुसरण करना उत्तम है। प्रणाली में 'निश्चयता' का भाव होना चाहिये। सरकार तथा प्रजा को कर की रकम ज्ञात हो। सरकार को कर-संबंधी सभी आँकड़े ज्ञात हों जिससे जिस प्रणाली का निर्माण हो, वह विशद हो। कर-प्रणाली की सभी बातें साफ़-साफ़

† "The Single Tax is defective fiscally, politically, morally and economically." (Seligman) "The notion of the single tax—import unique—on the produit net of land is now an exploded myth."

हों जिससे किसी प्रकार का भ्रम या सन्देह न हो। करों से जनता पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसे जानना चाहिये। प्रभाव ऐसा हो कि किसी को नुकसान नहीं पहुँचे। कर जमा करने या देने में आसानी हो, सुविधा हो। एक आलोचक का कथन है कि "The rich should pay more in taxation than they think. while the poors should think they pay more than they do."। धनी लोगों को गरीबों से अधिक कर देना चाहिये।

कर की प्रणाली को सरल होना चाहिये जिससे राज्य का सभी काम चल सके। उसे लोचपूर्ण होना उचित है जिससे जरूरत पड़ने पर दर बढ़ाई जा सके। व्यक्तिगत कर के प्रभाव का भी अध्ययन करना चाहिये। करों में जितनी ही विविधता होगी प्रणाली उतनी ही अच्छी होगी। प्रणाली को शासन की दृष्टि से भी निपुण और समर्थ होना चाहिए। जटिलता अच्छी नहीं। धोखेबाजों और कपटियों से इसको कमजोर नहीं बनाना चाहिये। बुराइयों का निराकरण करना चाहिये। प्रणाली में लय का पूरा सामंजस्य हो। करों में परस्पर विरोध नहीं होना चाहिये। फिर भी व्यावहारिक जीवन में सर्वथा निर्दोष कर प्रणाली का निर्वाह करना अत्यन्त कठिन ही नहीं, असंभव है। "Whoever hopes a faultless tax to see, Hopes what never was, or, is, or would be." यदि इन बातों का पूरा ख्याल किया जाय तो कर प्रणाली अवश्य में अच्छी होगी। † भारतवर्ष की कर प्रणाली-बहुत ही अच्छी है, फिर भी उसमें कुछ अवगुण हैं। मालों के यातायात, आयात-निर्यात पर कर (ड्यूटियाँ) बिना विचार के लगाई जाती हैं। समता के सिद्धान्त का

---

† डाल्टन महोदय ने अच्छी कर-प्रणाली का परिचय यों दिया है :—

"It is best to rely on a few substantial taxes for the bulk of the tax revenue. In so far as it is desired to tax the rich, Income and inheritance taxes are the best means ; in so far as it is desired to tax the poor, taxes on a few commodities of wide consumption, preferably commodities not necessary to health and efficiency"

भी पूरा पालन नहीं होता। धनी-वर्गों पर कम बोझ पड़ता है। मौसिमी वर्षा के कारण प्रणाली में कुछ अनिश्चयता भी है। इसमें वैज्ञानिक विशिष्टता भी कम है। कुछ करों की लोकनिन्दा होने पर भी वे अभी चालू हैं। इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय कर प्रणाली में भी कुछ ऐसे दोष हैं जिन्हें दूर करने से हमारा हित होगा। देखें, अपनी सरकार कहाँ तक सुधार करती है।

नवम अध्याय

आधुनिक सार्वजनिक अर्थनीति की प्रवृत्तियाँ

(Trends in Modern Public Finance)

बीस-पचीस साल पहले हम अपने मानस में इस तरह का चित्र खींच सकते थे कि सार्वजनिक अर्थनीति की गाड़ी राजपथ पर धीरे-धीरे जा रही थी। राज्य था वाहक और अश्व के सूचक थे सार्वजनिक आय-व्यय के मूल, तटस्थ कुछ सिद्धान्त। वाहक देखता रहता था कि अश्व अपनी राह से बहकर कहीं किसी व्यक्ति की जमीन-जायादाद में प्रवेश न कर जाय। गाड़ी पर जो पटरी लगाई गई थी उस पर स्पष्ट शब्दों में लिखा था—"राजहंस के पंख उतना ही नोचो जिसने से वह चिल्ला न उठे, उसकी कराहट कर्णकटु न हो जाय" (Pluck the goose with as little Squealing as possible.)। लेकिन आज सार्वजनिक अर्थशास्त्र की गाड़ी की गति ही विचित्र हो गई है। गाड़ी बड़ी तेजी से दौड़ती जा रही है। पुराना वाहक अश्व को द्रुतवेग से बढ़ाए जा रहा है। घोड़ा लोगों के घर-खलिहान से रौंदता हुआ निकल जाता है। लोग उसका कुछ बिगाड़ नहीं रहे हैं। आज पटरी पर वे पुराने शब्द दिखाई नहीं पड़ते। उनकी जगह उसपर न्यायोचित और समतापूर्ण समाज की प्रतिष्ठा की बात लिखी हुई है।

यद्यपि सार्वजनिक अर्थनीति के परिवर्तनों को अर्थशास्त्र के परिवर्तनों के साथ क्रमिक इतिहासबद्धता को दिखलाना कठिन है तथापि हम कुछ मोटामोटी विवरण प्रस्तुत कर सकते हैं। १९ वीं शती तक सरकारी कार्य का औचित्य अथवा अनौचित्य मुद्रा की

कसौटी पर जाँचा जाता था। इसीको लक्ष्य करके लार्ड केन्स ने १६ वीं शताब्दी को "Accountants' Nightmare" कहा है। सार्वजनिक काम-धाम का स्वर आर्थिक हिसाब-किताब के लय और ताल द्वारा परिचालित हुआ था। समाज में गंदी बस्तियों की वृद्धि इसलिए हुई कि समाज सुन्दर प्रासादों में कोई आर्थिक लाभ नहीं देखता था। लेकिन अब यह बात नहीं। २०वीं शताब्दी के इस युग के तराने नये हैं। हम अब इस बात को मानते हैं कि यदि कोई सार्वजनिक व्यय मानवीय और प्राकृतिक साधनों के सदुपयोग के लिए किया जाता है तो वह समर्थनीय है। प्रोफेसर पीगू ने अपनी पुस्तक (Economics of Welfare) में इस बात की बड़ी प्रशंसा की है। और तो और, लार्ड केन्स ने अपनी पुस्तक (General Theory) में समाज की भलाई के लिए सरकार द्वारा व्यर्थ व्यय (Wasteful Expenditure) को भी अच्छा माना है।

समय के क्रमिक विकास के साथ राज्य के कार्यों का विस्तार बढ़ता गया है और बहुत व्यापक हो गया है। विश्वव्यापी युद्धों ने इसकी आवश्यकता बढ़ा भी दी है। सरकार अब हमारे आर्थिक जीवन का नियमन करने लगी है। सबका विश्वास आत्म-स्वार्थ की निपुणता से उठ गया है। आत्म-स्वार्थ की भावना को अन्धा कहा जाने लगा है। सरकार को श्रमिकों और उनके मालिकों के बीच के संबंध को मैत्रीपूर्ण बनाए रखना है, आर्थिक व्यवस्था में जब-तब पैदा होने वाली उलझनों को—व्यापार-चक्रों को दूर हटाना है। सार्वजनिक अर्थ-नीति के सहारे आज एक समत्वपूर्ण, न्यायपूर्ण समाज की अवतारणा करने की जरूरत आ पड़ी है।

अदम स्मीथ और डेविड रिकार्डो ने पूँजी या उद्योगों के ऊपर कर लगाने से सरकार को मनाही दी थी। उनका विश्वास सरकारी व्यय की उपयोगिता में नहीं था। लेकिन १६ वीं शदी के प्रथम प्रहर

में कर-नीति को मानवीय दृष्टिकोण से नहीं देखा गया। सरकार को (Indirect Taxes) लगाने की सम्मति दी गई। उन दिनों की व्यवस्थापिकाओं में धनी लोगों के प्रतिनिधियों का बहुमत था। बस क्या था। धनिकों के कंधों पर जो बोझ पड़ना चाहिए था वह गरीबों के कंधों पर पड़ा। अर्थशास्त्र राजनीति के द्वारा शासित होने लगा। ऐसा बहुत दिनों तक होता रहा। बाद में कुछ विचारकों ने सोचा कि कर की नीति को सामाजिक योजनाओं को कार्यान्वित करने का साधन बनाया जा सकता है। जौन स्टुअर्ट मीलने सबसे पहले "अनार्जित वृद्धि या आय" (Unearned Incerment) की निन्दा की और उत्तराधिकार (Inheritance) की प्रथा को निकृष्ट बतलाया। उनने भूमि पर लगान लगाने की राय दी। लेकिन वे काफी जोर के साथ प्रगतिशील कर-नीति (Progressive Taxation) का समर्थन नहीं कर सके। उनने तो इसे विवृद्धि डकैती (Graduated Robbery) तक कह डाला। कार्ल मार्क्स ने सार्वजनिक अर्थनीति के शास्त्र पर पूरा प्रकाश नहीं डाला है। प्रथम महायुद्ध के पहले तक शासक सार्वजनिक अर्थनीति में प्रगतिशील भावना का समावेश नहीं कर सके थे। ग्रेट ब्रिटेन के प्रधान मंत्री ग्लैडस्टोन ने "Leaving money to fructify in the pockets of the people" की बात की जिसपर डाल्टन ने व्यंग का तीखा वाण छोड़ा है—"as though it were a ripenning cheese !"

हाल में सार्वजनिक अर्थनीति में कई संशोधन हुए हैं। कई गलत धारणाओं (fallacies) और दकियानूसी नियमों (Rules of thumb) को वहिष्कृत कर दिया गया है। अब अदम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित चार सिद्धान्तों के पालन से ही सरकार का काम नहीं चल सकता। सार्वजनिक अर्थनीति को पृथक विषय के रूप में देखना या उसे राज्य की कला मात्र मानना ठीक नहीं। यह निकट रूप से अर्थशास्त्र के विज्ञान से जुड़ा हुआ विषय है। सार्वजनिक

अर्थनीति में कोई उथल-पुथल या परिवर्तन होने से वे सामान्य व्यावसायिक जीवन को भी परिचालित करते हैं और हम जानते ही हैं कि सामान्य व्यावसायिक जीवन ही अर्थशास्त्र का अध्ययन-केन्द्र है। अतएव सार्वजनिक अर्थनीति सामाजिक जीवन को मोड़ सकती है।

आधुनिक सार्वजनिक अर्थनीति में तीन दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं। (१) फिजूल मौद्रिक दृष्टिकोण (Superficial Monetary Approach)—इसके अनुकूल सरकार संतुलित क्रोड़पत्र (Balanced Budget) प्रस्तुत करने की कोशिश करती है। इसे अनुशासन और स्वार्थहीनता की नजर से उचित बतलाया जाता है। कुछ लोग अत्यन्त अल्प बचत या कमी अपने क्रोड़पत्र में दिखलाते हैं जिससे उनके चरित्र में विकार नहीं आए। इस गुण (Virtue) से उन्हें प्रसन्नता भी काफी होती है। वे राज्य के जहाज को समान स्तर (Even keel) पर रखने की खुशी में मानों अपने हाथों अपनी पीठ ठोकते हैं। लेकिन एक बात है। सरकार का बजट केवल केन्द्रीय सरकार का बजट नहीं समझा जाना चाहिये। सरकारी क्रोड़पत्र तो केन्द्रीय सरकारों, स्थानीय सरकारों और व्यक्तिगत संस्थाओं और व्यक्तियों के क्रोड़पत्रों की समष्टि है। जब तक इस रूप में विचार नहीं किया जाता तब तक सरकारी बजट में गड़बड़ी रहेगी।

(२) वास्तविक पदार्थ का दृष्टिकोण (Real goods Approach)—सार्वजनिक अर्थनीति के ऊपर राष्ट्रीय सम्पत्ति और साधनों की दृष्टि से विचार होना चाहिए। सम्पत्ति और साधन मानवीय और भौतिक दोनों होता है। इनका सदुपयोग होना चाहिए। मौद्रिक साधन तो इस लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त मात्र हैं। इसलिए मुद्रा को मलकिनी नहीं बनाना चाहिए। उसे दासी ही समझना चाहिए। सोवियत रूस में मुद्रा को आज्ञाकारी दासी बना

लिया गया है। कहने का मतलब यह है कि अर्थ-सचिव बैंड-मास्टर की तरह है। वह राष्ट्रीय आर्थिक पद्धति की रंगशाला का निर्देशक है। वह राग और ताल ठीक करता है।

(३) मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण (Psychological Approach)—पीगू और एजवर्थ की रचनाओं में हम इसी दृष्टिकोण को पाते हैं। वे बेनथम के "अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम हित" का सिद्धान्त मानते और मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता पर अध्ययन करते हैं।

प्रो० सेलीगमैन, महाशया उरशूला हिक्स, डा० डी विटी, डा० डाल्टन, प्रो० स्टैम्प, आदि सार्वजनिक अर्थनीति के प्रमुख भाष्य-कर्ता हैं। इन लोगों के हाथों आर्थिक परिपूर्णता, (fiscal adequacy) लोच और परिवर्तता (Elasticity and Flexibility), विभिन्नता (Diversity) के सिद्धान्तों की अवतारणा हुई है। कर लगाने के सिद्धान्तों में "न्यूनतम सम्पूर्ण त्याग" (Least Aggregate Sacrifice) के सिद्धान्त की सर्वाधिक क्रियात्मक विशेषता है। डा० डाल्टन के शब्दों में किसी कर की उत्पादकता की परख उसकी भलाई बढ़ाने वाली क्षमता से हो सकती है।

लोगों की रुचि भी आर्थिक नीतियों में बढ़ गई है। लोग बड़े चाव से किसी नए कर के औचित्य-अनौचित्य पर विचार करते हैं। "The financial legacy of a gigantic war, the most supine tax-payer begins to be intesrested and sceptical"।

लॉर्ड स्टाम्प ने कर की समस्याओं पर तीन दृष्टिकोणों से विचार किया है—राज्य, समाज और व्यक्ति। उनका मत है कि बहुत-से कर जो हम अपनी जिन्दगी में पा रहे हैं इन तीनों दृष्टि-कोणों के संमन्थन के फल हैं। उन्होंने बड़े मार्मिक ढंग से यह भी

बतलाया है कि किस तरह कर लगाने का आधार पहले वस्तुनिष्ठ (Objective) था, बाद में व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) हो गया और फिर आगे चलकर में वस्तुनिष्ठ (objective) बन गया।

डी विटी ने प्राचीन और अर्वाचीन सरकारों की नीतियों में भिन्नता दिखलाते हुए बतलाया है कि पुराने समय में सरकार लोगों से इसलिए कर लेती थी कि वे उसके आधीन थे लेकिन वर्तमान समय में लोग इसलिए कर देना पसन्द करते हैं कि सरकार उनकी रक्षा और सेवा करती, उनका कल्याण करती है। पहले की कर-नीति में प्रभाव (compulsion) का भाव था और अब की कर-नीति में आग्रह (persuasion) का भाव है।

समय की प्रगति के साथ सार्वजनिक अर्थनीति के भीतर अनेकों परिवर्तन हुए हैं। "त्याग का सिद्धान्त" "लाभार्जन के सिद्धान्त" के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में आया है। कर-नीति में "क्रमिकता" (Graduation) और "विभिन्नीकरण" (Differentiation) की भावनाएँ काम करने लगी हैं। अब राष्ट्र की सम्पूर्ण आय और राजस्व की सम्पूर्ण रकम में तादात्म्य स्थापित किया जा रहा है। व्यय के कतिपय रूपों में संतुलन स्थापित किया जाता है। राजस्व एकत्र करने के उपायों में भी सुधार किया गया है और हो रहा है।

यह परिस्थिति का प्रभाव है कि प्रगतिशीलता का सिद्धान्त सार्वजनिक अर्थनीति में प्रधान स्थान अधिकृत करने लगा है और सामाजिक विकास की एक अद्भुत इंजिन बन गया है। अब इसे "Unjust mode of Taxatian" या "Graduated Robbery" नहीं कहा जा सकता है। इसके अनुसार आय को एक संयुक्त वस्तु (Composite Entity) के रूप में देखा जाता है।

"योग्यता' या "सामर्थ्य" (Ability) के निर्धारण का आधार ही बदल गया है। प्रो० कालेकी ने प्रगतिशील कर-नीति का समर्थन करते हुए भी इस बात पर जोर दिया है कि उसको उपभोग करने की वृत्ति और पूर्ण रोजी तथा वैयक्तिक पूँजी-योग के

आधार पर भी कसना चाहिए। राष्ट्रीय बजट को लॉर्ड बेभरीज ने मानवीय-शक्ति (Man-Power) के बजट के रूप में देखना अच्छा बतलाया है और उनका कथन है कि सार्वजनिक व्यय एवं व्यक्तिगत व्यय को इस प्रकार अभियोजित करना चाहिए कि राष्ट्रीय व्यय चरम (Optimum) हो सके।

युद्धोत्तर विश्व में कुछ दकियानूसी सिद्धान्त पैदा हो गये। मुद्रा-स्फीति (अधि स्फीति) के कुप्रभावों को हटाने के लिए अवशिष्ट बजट (Surplus Budget) बनाना नितान्त आवश्यक हो जाता है। अब घाटे के बजट (Deficit Budget) को भारवत् नहीं कहा जाता। वह व्यापारिक अधोगति के गर्त्त से आर्थिक व्यवस्था को निकालने का एक बढ़िया तरीका है। वह उद्योगपतियों की धुँधलाई आँखों (Telescopic vision) लिए 'सुरमा' का काम देगा! "ऋणांकृत्वा घृतं पीवेत" !

व्यक्तिगत पूँजी की संकोचशीलता को दूर करने के लिये और उसे उद्योगों में प्रवृत्त करने के लिये "प्रेरक करों" (Incentive Taxes) की गुणकारिता बहुत बड़ी कही जा रही है। प्रेरक कर के अनुसार जो पूँजीपति जितना ही अधिक पैसा उद्योग में लगाता है उसी अनुपात से कम आय-कर देना पड़ता है।

आर्थिक प्रणाली में गत्यावरोध होते रहने से मुद्रा अब आज्ञानुवर्त्ती दासी नहीं रही और उसका काम-काज असह्य हो गया है। कर-नीति की पुरानी मशीन की मरम्मत पर मरम्मत होती रही है और वह इस योग्य नहीं कि समय की माँग को पूरा कर सके। अब जरूरत एक नई मशीन की है। मौद्रिक नीति को कर-नीति और आर्थिक नीति के साथ संबंधित करना होगा। देश की भीतरी प्रणाली को बाहरी शक्तियों के कुप्रभावों से बचाना होगा।

सरकार को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों में संतुलन स्थापित करना पड़ रहा है। धनी-गरीब के बीच की खाई पाटने के लिए प्रत्यक्ष करों पर अधिक जोर दिया जाता है। मृत्यु-कर या जायदाद-

कर, मुनाफा-कर, आय-कर प्रत्यक्ष करों के कुछ भेद हैं। सामाजिक सुरक्षा (Social Security) की योजना कार्यान्वित की जा रही है। जायदाद या वित्त-करों के सहारे भविष्य और वर्तमान के बीच करों के बोझ को बाँटा जा रहा है। सरकार कितने उद्योग खुद चला रही है। जिन चीजों की माँग लोचहीन है और जिन उद्योगों पर सरकार का ऐकान्त अधिपत्य (Right of Eminent Domain) है वे सरकारी नियंत्रण और स्वामित्व में धीरे-धीरे आ रहे हैं। जीवन की जरूरियात और अर्द्ध जरूरियात वस्तुओं के उत्पादन पर सरकार का हक बढ़ रहा है। रेल, तार, डाक, कोयला, लोहा, जहाज, आदि बुनियादी उद्योग सरकार स्वयं चला रही है। जमीन का भी राष्ट्रीयकरण कई देशों में हो चुका है और कहीं-कहीं हो रहा है। सरकारी काम-धन्धे सेवा-सिद्धान्त (Service Principle) का अनुगमन करते हैं, लाभ-सिद्धान्त (Profit Principle) का नहीं। †

आर्थिक सहायता देते समय या कर लगाते समय सरकार को सोचना-विचारना पड़ता है कि इसका प्रभाव किस पर कैसा पड़ेगा। कर के प्रभाव (Incidence) पर सामूहिक दृष्टि-भोक्ता, उत्पादन, समाज, सरकार, आदि—से दृष्टिपात करना पड़ता है।

सार्वजनिक अर्थनीति की गाड़ी बड़ी तेजी से बढ़ती जा रही है। समाजवादी प्रवृतियों से उसके पहियों में और गति भरती जा रही है। गाड़ी ने कुछ आश्चर्यजनक कार्य भी सम्पन्न किए हैं। लेकिन अभी कई क्षेत्रों की यात्रा पूरा करना बाकी है और आशा है कि यह गाड़ी सफलतापूर्वक ऐसा कर सकेगी। पुलिस-राज्य के स्थान में कल्याण-राज्य (Welfar State instead of Police State) का अवतारण एवं संवर्द्धना यथेष्ट महत्व रखती हैं।

† "The principles of Public Expenditure are of co-ordinate significance to-day together with those of Public Taxation."

दशम अध्याय

कर देने की सामर्थ्य

(Taxable Capacity)

किसी देश की सरकार को इस विषय की जानकारी बहुत आवश्यक है। फिन्डले शीराज ने लिखा है "अपनी प्रजा की कर देने की सामर्थ्य की जानकारी न होने पर कितनी सरकारों को उन बेवकूफ कुमारियों की कहानी याद आ गई जिसमें बतलाया गया है कि किस तरह सुहाग-रात मनाने के परिणय हो जाने पर अपने-अपने पतिदेव के पास बिना तेल के चिराग लिये गईं थीं जो सब एक ही कमरे में थे।" जब कोई सरकार किसी व्यक्ति पर कर लगाने लगती है तब उसके दिमाग में एक संदेह पैदा होता है कि वह उसे दे सकेगा कि नहीं। यह आवश्यक बात है। यदि कर लगाने से लोगों की निपुणता मारी जाय तो उस दशा में समाज की बड़ी क्षति होगी। अर्थ-सचिव के लिये कर देने की सामर्थ्य का परिज्ञान आवश्यक होता है। यद्यपि इसका अर्थ ठीक-ठीक जानना कठिन है, तथापि कर देने की सामर्थ्य की सीमा को पार करना ठीक नहीं होता। युद्धकाल में भी इसके ज्ञान की महत्ता जान पड़ती है। कौन पराजित देश कितना जुर्माना (Reparation) देगा, यह भी इसी के आधार पर तय होता है। लेकिन इसकी व्याख्या करना कठिन है। विभिन्न लेखकों ने विविध प्रकार से इसकी परिभाषा की है। आगे उनमें कुछ का उल्लेख किया जा रहा है।

कर देने की सामर्थ्य का निर्णय किस प्रकार हो यह कहना कठिन है। (१) होर महोदय ने सोचा था कि इसे करों की परीक्षा कर के

निर्धारित किया जा सकता है। सर ब्रूमेड फ्रेजर कहते हैं कि किसी देश की कर लगाने वाली सामर्थ्य उसी समय पूर्ण हो जाती है जब कर देने वालों को अपने करों को अदा करने के लिये बैंकों से उधार लेने के लिये विवश होना पड़ता है। लार्ड स्टाम्प का मन्तव्य है कि इसका निर्णय सम्पूर्ण उत्पादन में से वह रकम घटा लेने पर होता है जो आबादी का निर्वाह करने में पर्याप्त हो। उनका यह भी कथन है कि यह उसी समय बड़ी होगी जब आमदनियों का वितरण विषम हो। शीराज महाशय ने इसकी परिभाषा करते यह लिखा है कि "यह समाज की खपत के बाद की बची रकम है। राष्ट्रीय आमदनी में से जरूरी रकम को घटा लेने पर जो कुछ बचता है वही कर लगने की सामर्थ्य का बोधक है"।एलिंजर ने बतलाया है कि "कर देने की सामर्थ्य" की सीमा तक हम उस समय पहुँच जाते हैं जब उत्पादन करने की प्रेरणा घट जाती है। यंग महोदय भी इसी विचार को मानते हैं। मेसन ने लिखा है कि कर देने की सामर्थ्य का पता हमें करों की परीक्षा करने पर लगेगा। ऊपर लार्ड स्टाम्प की जो परिभाषा दी गई है उसकी दो त्रुटियाँ हैं—(१) यह निरपेक्ष रूप में कर देने की सामर्थ्य पर विचार करती है। (२) "निर्वाह" शब्द भ्रामक है। उसके कई अर्थ हैं। फिन्डले शीराज की परिभाषा भी गलत है, क्योंकि "खपत" का सम्पूर्ण परिमाण देश-देश के लिये और एक ही देश के लिये भी विभिन्न समयों में विभिन्न होगा। प्रत्येक देश अपने रहन-सहन के स्तर को संवर्द्धित करना चाहता है। डा० डाल्टन इन सब परिभाषाओं से ऊबकर इसे थोथा बकवास—slipshod muddle—कहते हैं। उनके अनुसार इसे जानने के लिए कुछ बातों को मानना और कुछ अपवाद रखना अनिवार्य है। "Unless hedged about with many qualifications and assumptions, the Taxable Capacity of a community is a phrase which has very little meaning."। महाशय मकेना ने इसपर एक वक्तव्य

दिया था। जून का महीना और शाम की गर्मी! भोजन के बाद वह वक्तव्य हुआ था। मगर मकेना डाल्टन की शंकाओं का समाधान नहीं कर सके। आखिर "गर्मी में" कितना वे करते! ऊबकर डाल्टन इस सिद्धान्त को सार्वजनिक अर्थनीति के क्षेत्र से निर्वासित कर देना चाहते हैं, वे इसको सौंप देना चाहते हैं। लेकिन हम इतना मानने के लिये तैयार नहीं हैं। सरकार के व्यावहारिक जीवन में इसकी आवश्यकता है। हम इसकी एक परिभाषा यों दे सकते हैं "The manner in which money is to be spent being given and most fruitfull, taxable capacity means the amount of money that can be obtained from taxation with a view to the best interest of public revenue in the future."।

वास्तव में कर लगने वाली सामर्थ्य सापेक्ष है और कई बातों पर निर्भर करती है। वह बचत की उपज (Function of Surplus) है। नीचे हम इन्हीं तत्वों का उल्लेख पृथक-पृथक कर रहे हैं।

१. लोगों की मनोवृत्ति पर

(On the Psychology of the people)

संकट के समय देश की प्रतिष्ठा बचाने के लिए लोग अधिक कर देने के लिए उत्सुक रहा करते हैं। उस समय ऐसा जान पड़ता है कि देश की कर देने की ताकत बहुत बढ़ गई है। प्रो० मेहता और प्रो० अग्रवाल ने लिखा है, "Sentiment plays a considerable part in taxation as in politics. Oppression may raise men into heroes or sink into slaves. Heavy taxation may make some men industrious, enterprising and wealthy while others become indolent, dispirited and impoverished."

२. राष्ट्रीय धन के विस्तार पर

(On the Size of National Wealth)

कहावत ही है "धनी देश में धनी राज्य"।

३. राष्ट्रीय आय के वितरण के ढंग पर

(On the Method of the Distribution of N. I.)

जब इसका वितरण असमान होता है तब यह सामर्थ्य अधिक होती है। यदि एक आदमी के पास ही २०, ००० रु० हो तो उसकी कर देनेवाली ताकत बड़ी होगी। पर इतनी ही पूँजी यदि १० आदमियों के हाथों में हो तो जो सामूहिक ताकत होगी वह कम होगी।

४. आबादी और आय की वृद्धि पर

(On tha Increase in Population and Income)

यदि आबादी से आय अधिक बढ़े तो प्रतिजन आमदनी भी अधिक मिलेगी और इसके कारण सामर्थ्य भी अधिक होगी। आबादी में बूढ़ों और बच्चों की संख्या ज्यादा होने से यह अधिक होगी—क्योंकि उस समय खपत पर अपेक्षाकृत कम खर्च होगा।

५. देश के औद्योगिक बल पर

(On the Industrial Potentiale)

जो देश जितना ही औद्योगिक होगा उसकी सामर्थ्य उतनी ही अधिक होगी क्योंकि देश की आमदनी भी बेशुमार होगी।

६. लोगों के रहन-सहन पर
(On the Standard of Living)

यदि रहन-सहन का स्तर ऊँचा है तो लोग अधिक निपुण होंगे और काम करने की योग्यता और इच्छा भी उनकी अधिक होगी।

७. कर-प्रणाली के ढंग पर
(On the Method of the Tax System)

यदि प्रत्यक्ष करों की बहुलता है तो अधिक आमदनी मिल सकती है और देश की उत्पादनशीलता को भी धक्का नहीं पहुँच सकता है। प्रगतिशील करों से भी ज्यादा राजस्व मिलता है।

८. राजकीय व्यय की प्रकृति पर
(On the Nature of State Outlay)

यदि सरकार अधिक पैसा शिक्षा, स्वास्थ्य, आदि में खर्च करती है तो लोगों की यह सामर्थ्य अधिक होगी।

९. आमदनी की स्थिरता पर
(On the Stability of Income)

स्पष्टत: स्थिर आमदनी होने से लोगों की सामर्थ्य भी स्थिर होगी।

१०. मुद्रा-स्फीति पर
(On Inflation)

मुद्रा-स्फीति के कारण लोगों की क्रय-शक्ति न्यून हो जाती है। इससे कितने लोगों को आघात पहुँचता है। इसका कर लगाने वाली ताकत पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

हमारा अपना उपसंहार यह है कि "कर देने की सामर्थ्य" का अध्ययन करना कठिन जरूर है, लेकिन वह व्यर्थ कदापि नहीं। सुनिये फिन्डले शीराज इसके विषय में क्या कहते हैं—"A road leading to an important centre has often many crossings, signposts, danger signals, but this does not lessen its value to the cautious sojourner." हाँ, यह ठीक है कि इस सिद्धान्त में इधर कुछ शोध-कार्य हुआ है जो महत्वपूर्ण है। उसी के ऊपर हम नीचे कुछ रोशनी डाल रहे हैं।

सार्वजनिक अर्थ (चाहे अर्थनीति) का विशुद्ध सिद्धान्त "सामूहिक इच्छाओं" की अभिव्यक्ति करता है। ये सामूहिक इच्छाएँ "सार्वजनिक" वस्तुओं और सेवाओं द्वारा संतुष्ट की जाती हैं। सरकार सर्वसाधारण के प्रतिनिधि—agent—का काम सम्पन्न करती है। वह उनकी आय रूपी 'मीठी रोटी'—cake—से एक 'टुकड़ा' अपने खर्च-वर्च के लिए कुतर लेती है। एक टुकड़ा कुतर तो वह लेती है सही पर वह उसको उन्हें (यह जरूरी नहीं है कि गैर-कर दाताओं को ही उसे वापस करे, कुछ कर दाताओं को भी उसका अंश मिल सकता है) फिर वापस कर देती है। लेकिन आश्चर्य की बात है कि उसकी 'मीठी रोटी' का आकार-प्रकार उस टुकड़े के वापस करने पर पूर्ववत् ही होने के स्थान में कुछ बड़ा ही हो जाता है मानो उसको 'भूत' या 'जीन' या 'चुड़ैल' लग गई हो! सरकार वापस करती है उनका प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष उपकार करके।

यह तो है लेकिन यह जानना जरूरी है कि सार्वजनिक अर्थ का सबसे अधिक मितव्ययपूर्ण 'परिमाण' क्या होगा। डाल्टन ने तो डंके की चोट से कहा है कि सरकार अपने राज्य की "निरपेक्ष कर देने की सामर्थ्य को इसका आधार नहीं बना सकती है, क्योंकि वह तो धोखे की टट्टी है और सरकार अगर उसको अव्वल आधार मानने की धृष्टता करे तो वह तेलहंडे में समूचे देश की आर्थिक

व्यवस्था को डाल सकती है जिससे अनेकों असुन्दर असामाजिक हथकंडे पैदा हो सकते हैं। डाल्टन साहब की ललकार (या चेतावनी ही सही) का ही यह फल है कि अब "निरपेक्ष कर देने की सामर्थ्य" भावना के बदले "सार्वजनिक अर्थ का चरम" (Optimum of public Finance) की भावना चल पड़ी है। इसका संबंध "सर्वाधिक लाभ का सिद्धान्त" से कुछ मालूम पड़ता है यद्यपि यह उसका परिष्कृत रूप है। इस नूतन भावना की परिभाषा सरल शब्दों में यह होगी—"The limit (ie Optimum) for the operations of raising and spending public money is given by the point at which the marginal utility of expenditure is just equal to the marginal disutility involved in raising the revenue." प्रो० पीगू ने तो गजब फरमाया है—"If a community were literally a unitary being with the government as its brain, expenditure should be pushed in all directions up to the point at which the satisfaction obtained from the last shilling expended is equal to the satisfaction lost in respect of the last shilling called up on government service"।

कर की सम्पूर्ण अनुपयोगिता के ऊपर व्यय की सम्पूर्ण उपयोगिता के आधिक्य को "खालिस लाभ" की संज्ञा दी जा सकती है। "The amount of Public Finance which maximises the net Benefit is the 'Optimum' of public Finance. Its attribute is that the marginal utility must be equal to the marginal disutility of taxation"।

सार्वजनिक अर्थ की चरमगत योजना (Optimum Scheme) स्थिर (Static) और गतिशील (Dynamic) दोनों दृष्टिकोणों

से देखी जा सकती है। अपने स्थिर रूप में सार्वजनिक अर्थ की चरमगत योजना वह होगी जो वर्तमान राष्ट्रीय बाँट (National Dividend) या आय के परिमाण तथा उसके वितरण के ढंग की प्रस्तुत अवस्थाओं में खालिस लाभ को सर्वाधिक बनाती है। लेकिन इस योजना की त्रुटि यह है कि यह संकीर्ण है और यह सामाजिक दृष्टिकोण से देखती नहीं। फलतः यह 'सर्वाधिक सामाजिक लाभ' को आत्मगत नहीं कर सकती। अपने गतिशील रूप में सार्वजनिक अर्थ की चरमगत योजना वह होगी जिसके तत्त्वावधान में अर्थ का परिमाण तथा व्यय एवं कर की व्यवस्थाओं की प्रकृति इस तरह से रूपायित की जायगी कि वर्तमानकालीन और भावी सामाजिक लाभ के रूप में 'खालिस लाभ' अधिकतम हो जायगा। तदर्थ कर की व्यवस्था 'न्यूनतम सम्पूर्ण परित्याग' के सिद्धान्त पर और व्यय की व्यवस्था 'अधिकतम सम्पूर्ण लाभ' के सिद्धान्त पर आधारित होगी। इन दोनों व्यवस्थाओं का सर्वाधिक अनुकूल प्रभाव राष्ट्रीय आय के परिमाण और उसके विभाजन की रूप-रेखा पर पड़ेगा।

(इस अंश को द्वितीय अध्याय के साथ पढ़ना अच्छा होगा—लेखक)

———

एकादश अध्याय

कर के भेद, उनका संपतन, हस्तान्तर और संवहन या संघात

(Forms of Tax. Their Impact. Shifting and Incidence)

परिभाषाएँ
(Definitions)

जब किसी पर कोई कर लगाया जाता है, जब उसका कंधा मसकता है तब वह भरसक कोशिश करता है कि वह उसको दूसरे के कंधों पर डाल दे। कर के बोझ को हटाने की इसी क्रिया को हस्तान्तर (शिफ्टीङ्ग) कहते हैं। संवहन (इन्सिडेन्स) या हटाना के प्रश्न का तात्पर्य उससे है कि कौन कर देता है, कर का प्रभाव किस पर आखिर में पड़ता है। कर का यथार्थ प्रभाव उसी पर पड़ता है जो अन्ततोगत्वा कर का मुद्रागत बोझ सहता है तथा किसके जेब से कर की रकम निकलती है। किसकी जेब से पैसा नहीं जाता यदि कर नहीं लगता, इन्सिडेन्स का सवाल यही है। यह सवाल कीमत का है। संपतन (इम्पैक्ट) या दबाव उसी पर पड़ता है जो पहले कर देता है। जिस पर कर की—प्रथम दबाव;छाप पड़ती है वह उसे दूसरे के कंधों पर डालने की चेष्टा करेगा। †

कर के दो प्रभाव या बोझ होते हैं—मौद्रिक बोझ और वास्तविक

---

† It is well said that the Theory of Incidence is the Theory of Value, with its counterpart into the Element of time (is the temporal System), and the Law of Elasticity (both of demand and Supply) dovetailed into one.

बोझ। बोझ भी दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। कर में जितनी मुद्रा दी जाती है उसे ही प्रत्यक्ष मौद्रिक बोझ कहते हैं। प्रत्यक्ष यथार्थ बोझ का निर्धारण आर्थिक भलाई के उत्सर्ग से होता है। कर का प्रभाव प्रत्यक्ष यथार्थ बोझ के द्वारा जाना जाता है। कर के अप्रत्यक्ष मौद्रिक बोझ की व्याख्या यों की जाती है:—मान लीजिए किसी दुकानदार पर कुछ कर लगाया जाता है। वह चीजों को बेचने के समय उनकी कीमतों में ही कर कुछ-कुछ वसूल कर लेगा। परन्तु इसमें उसको समय लगेगा। उसे सूद देना पड़ता है। इस तरह उसके ऊपर जो प्रभाव पड़ता है, उसे अप्रत्यक्ष मौद्रिक बोझ कहते हैं। अब चूँकि चीज की कीमत में सूद का कुछ अंश भी जुड़ा हुआ रहता है, इसलिए भोक्तागण कम मात्रा में चीज खरीदेंगे। इससे उन्हें आर्थिक सुख का कुछ उत्सर्ग करना पड़ेगा। इसलिए कर का जो प्रभाव भोक्ताओं पर पड़ता है उसे अप्रत्यक्ष यथार्थ बोझ कहते हैं।

कर को एक आदमी के ऊपर से दूसरे आदमी के ऊपर डालने के तीन ढंग देखे जाते हैं। शिफ्टीङ्ग की दिशा, उसका रूप और उस की मापा शिफ्टीङ्ग की दिशा अग्रगामी या प्रतिगामी हो सकती है। जब कोई माल बाहर से आता है तो उसपर लगाए कर को या तो उत्पादकों पर डाला जा सकता है या क्रेताओं पर। शिफ्टीङ्ग के दो रूप होते हैं—या तो चीज की कीमत अधिक दी जाय या उसमें कुछ मिला दिया जाय जिससे उसका गुण कम हो जाय। कर को या तो पूरी यात्रा में दूसरे आदमी के ऊपर डाला जा सकता है या कुछ मात्रा में अपने सहा जा सकता है और कुछ मात्रा में दूसरे के ऊपर। इसीको शिफ्टीङ्ग की माप कहते हैं।

प्रो० सेलीगमैन के शब्दों में—The shifting is the process, the incidence is the result and the changes in the distribution of wealth are the effects। डि विटी ने लिखा है,—"Shifting occurs when

the tax which the law imposes (Impact) on a tax-payer "de jure" is unloaded by the latter, in whole or part, upon other citizens (Incidence), who are called the tax-payers "de facto." ।

इन तीनों के फर्क को बतलाने के लिए एक दृष्टान्त दिया जा सकता है—मान लीजिए चीनी पर चुंगी या कर लगाया गया है। चीनी का दाम बढ़ जायगा। कर लगाने का इन्सिडेन्स-संघात-भोक्ताओं पर पड़ेगा। यह एक सीधा सपाटा सवाल है, लेकिन कर का प्रभाव-एफेक्ट-कुछ दूसरा ही होगा। चीनी का उद्योग हो सकता है, नष्ट हो जाय। चीनी के व्यवसायिओं के मुनाफे घट जायेंगे। चीनी के उद्योग में लगे श्रम और पूँजी को वह उद्योग छोड़ना पड़ेगा। मजदूरी घट सकती है। चीनी के वाणिज्य में लगे बहुत-से व्यापारियों (मिडलमेन) की आमदनी घट सकती है। चीनी का दाम बढ़ने से कुछ लोग चीनी खाना कम कर सकते हैं। चीनी की कुल खपत घट सकती है। चीनी की एवजी चीजों का उपयोग बढ़ेगा। ये सब चीनी पर कर लगाने के प्रभाव हैं। यह एक विस्तृत समस्या है। संघात (इन्सिडेन्स) का प्रश्न विशिष्ट और संकीर्ण होता है। इस तरह हम देखते हैं कि चीनी-कर का संपतन 'इम्पैक्ट' चीनी के उद्योगपतियों पर, उसका 'इन्सिडेन्स' चीनी के भोक्ताओं पर और उसका 'एफेक्ट' सम्पूर्ण आर्थिक प्रणाली पर पड़ेगा। इन्सिडेन्स अग्रगामी हो सकता है और प्रतिगामी भी। अग्रगामी होने पर चीनी के कर का इन्सिडेन्स चीनी के ग्राहकों पर पड़ेगा। प्रतिगामी होने पर वह गन्ना उपजाने वालों पर, गन्ना को स्टेशन तक पहुँचाने वाले मजदूरों या बहलवानों पर पड़ेगा।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर
(Direct and Indirect Taxes)

प्रत्यक्ष कर और अप्रत्यक्ष कर के अन्तर को जानने के लिये

इम्पैक्ट और इन्सिडेन्स के फर्क को जानना होगा। प्रत्यक्ष कर में कर का इम्पैक्ट तथा इन्सिडेन्स एक ही आदमी पर पड़ते हैं। जिसपर कर लगता है, जो पहले कर देता है, उसे ही आखिर तक उसका बोझ ढोना पड़ता है। वह दूसरे के ऊपर उसे डाल नहीं सकता। आय पर लगाया कर (इनकम टैक्स) प्रत्यक्ष कर ही है। आय-कर जिस पर लगाया जाता है उसे ही उसे चुकाना पड़ता है। अप्रत्यक्ष कर में इम्पैक्ट एक आदमी पर और इन्सिडेन्स दूसरे आदमी पर पड़ता है। कर पहले किसी पर लगाया जाता है और वह आदमी कर को दूसरे पर डाल देता है। माल पर लगाया हुआ कर अप्रत्यक्ष कर है। दुकानदार पहले कर तो दे देता है, परन्तु वह क्रेताओं से उसे आगे चलकर वसूल लेता है। अतः कर का अन्तिम बोझ ढोने वाले भोक्ता ही होते हैं।

लेकिन यह विभाजक रेखा ठीक नहीं। फेंका-फेंकी (शिफ्टींग) का कार्य ही सच्ची विभेदक रेखा है। अप्रत्यक्ष कर वह है जिसमें शिफ्टींग संभव है। प्रत्यक्ष कर वह है जिसमें शिफ्टींग संभव नहीं। किसी वस्तु पर कर लादने से ऐसा हो सकता है कि उसकी कीमत ज्यों-की-त्यों रहे। वैसी हालत में ग्राहक या क्रेतागण प्रभावित नहीं होंगे। तब वह कर प्रत्यक्ष कर का नमूना होगा। उदाहरण के लिए एकाधिकारी पर जो कर पूरी रकम से लिया जाता है या उनके मुनाफे के एक खास प्रतिशत के हिसाब से उसकी शिफ्टींग नहीं होती। इसलिये ऐसा कर प्रत्यक्ष होगा लेकिन जब एकाधिपति पर उत्पादन के अनुपात में कर लगाया जाता है तब उसकी शिफ्टींग वह कर पाता है और वह कर अप्रत्यक्ष कर बन जाता है। उसी तरह आय-कर यों तो एक प्रत्यक्ष कर है, लेकिन जब उसका बोझ दूसरे पर डाल दिया जाता है तब वह अप्रत्यक्ष कर बन जाता है।

जॉन स्टुअर्ट मील ने दोनों का विभेद दिखलाते हुए लिखा था—

"A direct tax is one demanded from the very person who, it is intended, or desired should pay

it, and an indirect tax as one demanded from one person in the expectation and intention that he shall indemnify himself as the expense of another"। लेकिन वास्तविक तथ्यों से यह कथन साम्य नहीं रखता।

शासन-व्यवस्था के दृष्टिकोण से विचार करना ही अच्छा होगा। प्रत्यक्ष कर वह कर है जिसके दाताओं के नाम सरकारी रजिस्टरों में अंकित हों और जिसके देने-लगाने की तारीख भी ज्ञात हो। अप्रत्यक्ष कर वह है जिसके दाताओं के नाम और उसके देने की तारीख भी ज्ञात नहीं हों।

प्रत्यक्ष करों की विशेषताएँ और त्रुटियाँ
(Merits and Demerits of Direct Taxes)

(१) यह प्रगतिशील और न्याय-सम्मत (with equity) कर है। इसे लगाते समय ऐसा इन्तजाम किया जा सकता है कि अधिक बोझ धनियों पर और कम बोझ गरीबों पर पड़े। कम आयवालों को कर से मुक्त किया जा सकता है। इस तरह सामर्थ्य वाले सिद्धान्त की भी पूर्त्ति हो सकती है। न्याय का भी प्रवर्तन आसानी से किया जा सकता है।

(२) प्रत्यक्ष कर सदैव उत्पादनशील होते हैं। उनमें लोच का भी गुण रहता है। भारतवर्ष में मालगुजारी और आय-कर से अत्यधिक आमदनी हुई है। सरकारी आवश्यकताओं के बढ़ने पर दर को थोड़ा बढ़ा देने से ही आय अधिक हो सकती है।

(३) प्रत्यक्ष कर कम खर्चीला होता है। उसे इकट्ठा करने का व्यय बहुत कम होता है। उससे नुकसान भी कम होता है।

(४) यह कर निश्चयता के नियम की पूर्ति करता है। कर देनेवाला जानता है कि उसे कितना कर कब देना है और सरकार को भी मालूम रहता है कि उसे आमदनी कितनी होगी।

(५) इसका विस्तार आप ही आप होता है। आबादी बढ़ने के साथ आय भी स्वतः बढ़ जाती है। यह इसकी प्रसारणता (flexibility) है।

(६) कुछ प्रत्यक्ष करों से चकमा देकर बचना कठिन है।

(७) प्रत्यक्ष कर देने से लोगों का राजनैतिक चैतन्य जाग्रत होता है। वे उसका बोझ अनुभव करते हैं तथा राजकीय कार्यों में काफी दिलचस्पी लेते हैं। इस तरह नागरिक चैतन्य का उदय होता है।

इस कर के कुछ दोष भी हैं।

(१) प्रत्यक्ष कर अप्रत्यक्ष करों की अपेक्षा कम लोकप्रिय होते हैं। लोग प्रत्यक्ष कर को जानबूझ कर देते हैं, परन्तु अप्रत्यक्ष करों को वे अनजान में देते हैं। इसलिये दूसरी दशा में वे उनके भार का अनुभव नहीं करते।

(२) यह असुविधापूर्ण होता है। कर देने वाले को हिसाब-किताब रखना पड़ता है। कर को एक मुश्त से देना पड़ता है, परन्तु इसके विपरीत आमदनी थोड़ा-थोड़ा करके होती है। इस तरह झंझटों का मुकाबला करना पड़ता है।

(३) यह ईमानदारी पर लगाया हुआ कर है। यदि गलत हिसाब-किताब दिखलाया जाय तो कर से बहुत कुछ बचा जा सकता है। इस तरह राज्य भी धोखा खा जाता है।

(४) इस कर को लगाने में ऑफिसर मनमानी भी कर सकते हैं। कर का परिमाण उनकी मर्जी पर रहता है।

अप्रत्यक्ष करों की विशेषताएँ और दोष
(Merits and Demerits of Indirect Taxes)

(१) इन्हीं के द्वारा दरिद्र-वर्ग से भी कुछ द्रव्य लिया जा सकता है। उसपर प्रत्यक्ष कर नहीं लगाए जा सकते। प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के संचालनमें थोड़ी-बहुत मदद करनी चाहिए। फिर भी कुछ लोग इस बात को नहीं मानते कि "Indirect tax is taxation in darkness"।

(२) इनके द्वारा कर की प्रणाली को विशद बनाया जा सकता है। भारी कर प्रत्यक्षतः वसूल करने से लोगों में विरोध की भावना उत्पन्न हो सकती है। अप्रत्यक्ष करों के द्वारा प्रत्यक्ष करों के बोझ को हल्का किया जा सकता है।

(३) ये कर लोकप्रिय होते हैं, क्योंकि लोग अनजान में ही चीजों की कीमतों के साथ कर भी चुका देते हैं। वे इनके खिलाफ आवाज भी नहीं उठाते। "Indirect tax is wrapped up in the price."

(४) अप्रत्यक्ष कर अधिकतर वस्तुओं पर लगाए जाते हैं। इसलिए वे सुविधाजनक होते हैं। चूँकि कोई चीज थोड़ी वजन में ही खरीदी जाती है इसलिए अधिक कर नहीं देना पड़ता। अपनी इच्छानुसार चीजों को न खरीदकर इन करों को नहीं दिया जा सकता।

(५) ये बहुत ही लोचपूर्ण होते हैं और इनसे राज्य को काफी राजस्व प्राप्त होता है। दर को थोड़ा भी बढ़ा देने से बहुत आमदनी हो सकती है।

(६) इनके लगाने से पूँजी का संचय कम नहीं हो सकता, क्योंकि ये प्रत्यक्ष रूप से नहीं वसूले जाते।

(७) हानिकारक चीजों पर अप्रत्यक्ष कर लगाने से लोगों को फायदा पहुँचता है। लोग इनका उपभोग छोड़कर अच्छी चीजों में अपने पैसे खर्च करते हैं।

(८) इनसे बच जाना मुश्किल है।

(९) विलास और आराम की चीजों पर कर लगाकर अप्रत्यक्ष कर को समत्वपूर्ण—equitable बनाया जा सकता है। फिर भी इन अप्रत्यक्ष करों के कुछ दोष हैं। वे नीचे दिये जाते हैं :—

(१) अप्रत्यक्ष करों का लगाना अनुचित है, क्योंकि वे असमदर्शी होते हैं। इनका प्रभाव गरीबों पर अधिक पड़ता है। ये ज्यादेतर जीवन की जरूरियात चीजों पर लगाए जाते हैं। ऐसी चीजों में गरीबों का पैसा ही अधिक लगता है। यह Engel साहब के Law of Consumption द्वारा स्वत: सिद्ध है। कर-प्रणाली को सम्पत्ति-वितरण की विषमता को दूर करना चाहिए, बढ़ना नहीं चाहिए।

(२) मन्दी के समय इन करों से जो राजस्व प्राप्त होता है वह कम हो जाता है।

(३) इनसे जो आमदनी होती है वह निश्चित नहीं होती। यदि कर अधिक है तो चीजों की माँग घट जायगी और कर की रकम भी कम हो जायेगी।

(४) इन करों से समाज पर कैसा प्रभाव पड़ता है, इसको जानना कठिन है।

(५) ये कर किफायती भी नहीं होते। इनको एकत्र करने का खर्च भी ज्यादा होता है। चीजों की कीमतें बढ़ जाती हैं। बहुत-से ऑफिसर रखने पड़ते हैं। उन्हें वेतन देना पड़ता है। मध्यस्थों के कारण भोक्ताओं को अधिक दाम देना पड़ता है।

(६) इनसे लोगों में राजनैतिक चैतन्य नहीं उद्‌भूत होता। इनको देनेवाले नागरिकता की पूरी शिक्षा नहीं पाते।

(७) अप्रत्यक्ष कर लगाने के कारण देश के उद्योगों पर बुरा असर पड़ता है। भारतीय कॉटन मिलों की चीजों पर चुँगी लगाने से इन मिलों को काफी चोट पहुँची है।

(न) जे० ई० मीड के कथनानुसार इन करों के कारण कुछ चीजों के दाम सीमान्त व्यय से बहुत अधिक हो जाते हैं। इससे अन्त में बेकारी भी कुछ-कुछ फैल जाती है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों की विशेषताओं और दोषों को देखकर हम यह कदापि नहीं कह सकते कि दोनों में कौन अच्छा है और कौन बुरा। † दोनों ही अच्छे हैं और कर की प्रणाली में दोनों का होना उचित है। कोई भी देश किसी एक पर निर्भर नहीं रह सकता। समान और समुचित कर प्रणाली के लिए जरूरी है कि दोनों करों का सुन्दर संतुलन हो। आधुनिक समय में लोगों की यह धारणा है कि अधिकांश राजस्व प्रत्यक्ष करों के द्वारा ही प्राप्त करना चाहिये। इनकम टैक्स, डेथ ड्यूटी, आदि लगाना चाहिये। अप्रत्यक्ष करों को लगाते समय देखना चाहिये कि उनका प्रभाव गरीबों पर बुरा न पड़े। यह कहा नहीं जा सकता कि प्रत्यक्ष करों का प्रभाव धनियों पर ही और अप्रत्यक्ष करों का गरीबों पर ही पड़ता है। दोनों का प्रभाव समाज के दोनों ही वर्गों पर पड़ता है। आदर्श कर प्रणाली में, दोनों तरहों के करों का समन्वय होना चाहिये। ग्लैडस्टोन महोदय के शब्दों में "दोनों कर दो सहोदर भगिनियाँ हैं। दोनों सुन्दर हैं। अत: हमें दोनों के प्रति निष्पक्ष होना होगा।" डा० बी० आर० मिश्र के शब्दों में "The introduction of direct and indirect taxes is to divide the taxpayer's fiscal obligation into several parts; part of which he must pay by direct taxes, and part by indirect taxes. A mixture of the two types of taxes is an advance upon the system having only one type."। यह ठीक है लेकिन विनम्र संशोधन के रूप हम कहना चाहेंगे कि प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष

† "There is a soul of goodness in things evil." "The rose has its thorns."

करों में संतुलन होना चाहिए लेकिन यह संतुलन इस प्रकार का हो कि धनी और गरीब के बीच संतुलन स्थापित हो सके।

विक्रय-कर की समीक्षा
(Critique of Sales Tax)

प्रान्तीय (अब राजकीय) सरकारें अपनी सीमाओं के अन्तर्गत वस्तुओं के विक्रय पर कर लगा सकती हैं। यह जरूर है कि केन्द्रीय सरकार ने विशिष्ट वस्तुओं के विक्रय-करों के संबंध में प्रान्त-प्रान्त के बीच अनुरूपता का होना राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक माना है और उसके सिलसिले में प्रान्तीय सरकार के अर्थ-सचिवों का एक अधिवेशन भी हो चुका है। लेकिन इसके सिवाय प्रत्येक प्रान्तीय सरकार को यथेष्ट स्वतंत्रता है। स्पिरीट, मील के बनाए वस्त्रों, तम्बाकू, दुकानदारों, रोजगारियों, पेशावालों, होटलों, सिनेमा-घरों, राशन, आदि अनेकों चीजों की बिक्री पर एक-एक कर बिठा दिया गया है। कच्चे मालों की बिक्री से लेकर तैयार मालों की बिक्री तक सब जगह एक-एक कर सवार है।

विक्रय-करों की बड़ी कुत्सा और आलोचना हुई है। सार्वजनिक अर्थ-नीति से इनका अटूट संबंध है, अतएव उन पर विचार करना उचित प्रतीत होता है। पहले विक्रय-कर के विपक्ष में दिए जाने वाले तर्कों को लीजिये : (१) यह समता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। बेखालिस व्यय के आधार होने से इस कर में यह देखा-सुना नहीं जाता कि किस क्रेता की सामर्थ्य कितनी है। (२) यह प्रतिगामी —Regressive—है और इसका बोझ गरीबों पर अधिक और धनिकों पर कम पड़ता है। क्योंकि यह साधारणतया दैनिक (Staple) खाद्य-पदार्थों पर लगाया जाता है। इसमें क्रमबद्धता और विभिन्नीकरण (Graduation and Differentiation) का साहाय्य नहीं लिया जाता। (३) इसके कारण व्यापारियों और व्यवसायियों को बहुत झंझट और असुविधा उठानी पड़ती और बही-

खाता रखना पड़ता है। (४) यह मितव्ययतापूर्ण भी नहीं। इसके राजस्व को जमा करने का खर्च बहुत बैठता है। "It is easier to kill a tiger than a gnat"! (५) प्रान्त-प्रान्त के बीच कर की रकमों में अन्तर होने पर बेईमानी–Smuggling—की भी जगह रहती है। (६) विक्रय-करों को देने से कभी-कभी हम बच भी जा सकते हैं। इस तरह Evasion की पूरी गुंजाइश रहती है। (७) व्यापारिक अधः पतन और सस्ती के समय ऐसे करों से पूँजी लगाने की प्रेरणा और व्यापार की राशि घट सकती हैं। (८) केनसियन मतानुसार इनसे उपभोग की प्रवृत्ति क्षीण होती है और इससे अन्ततोगत्वा बेकारी बढ़ सकती है। (६) स्टेम्प के अनुसार विक्रय-कर एकाधिकारों या समन्वयों के जनक हैं। "The imposition of a Sales-tax leads to the encouragement of mammoth consolidated business against small individual businesses; this is a matter for consideration of its social effects."(१०) मीड विक्रय-करों की निन्दा उनसे उत्पन्न उत्पादन के साधनों के विभिन्न उद्योगों के वितरण पर प्रतिकूल प्रभाव के कारण करते हैं। †

लेकिन इन करों के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं— (१) ये कर बहुत उत्पादक होते हैं और ये कर-पद्धति तथा राजस्व को विस्तारित करते हैं। (२) ये प्रत्यक्ष करों को सम्पूरित करते हैं। (३) व्यापार की चक्रीय गति की ये एक औषध हैं। अगर व्यापारिक घूम (Boom) के समय इन्हें लगाया जाय तो उसके वेग को कुछ कम

† Commodity taxes are therefore in appropriate as a means of redistributing income and also have undesirable effects upon the distribution of factors of production among different occupations.

If some commodities are taxed, their price will be raised above their marginal cost while untaxed commodities continue to sell at prices equal to their marginal costs. Factors of production will therefore be diverted in an uneconomic way from the production of the taxed commodities. (Meade)

किया जा सकता है। (४) प्रो० पीगू ने विक्रय-करों का समर्थन इस बात पर किया है कि इनके द्वारा आमदनी पर दोबारा कर लग पाता है। (५) महाशाया उरशूला हिक्स का कथन है कि विक्रय-करों के साथ यह सुविधा है उन चीजों पर, जो निर्यात के लिए हैं, रिबेट—आर्थिक छूट-दिया जा सकता है जिससे निर्यात बढ़ सकता है और उससे व्यापार-लेखा की दुर्बल कड़ी को सबल बनाया जा सकता है। (६) यदि विक्रय-कर को उत्पादन के आखिरी दर्जे में लगाया जाय तो वह बोझ-स्वरूप कम मालूम पड़ेगा। प्रारंभिक दर्जे में कर लगाने से उसका बोझ बहुत मालूम पड़ता है। (७) फिर अगर सौदागरों के द्वारा माल उठाते समय कर बिठाया जाय तो बड़े और छोटे फर्मों के बीच असमदर्शिता (Inequity) का अवसर भी नहीं रहेगा क्योंकि दोनों—बड़े और छोटे—कोटियों के फर्म लगभग एक ही दाम पर कच्चे मालों को मोल लेते हैं। हिक्स का यही मत है।

यद्यपि विक्रय-करों के पक्ष में कहे तर्कों का पलड़ा उनके विपक्ष में कहे तर्कों से बहुत ऊँचा है तथापि सरकार के लिए वे बहुत लोकप्रिय हैं क्योंकि वे सीधी और दुधार (Milch) गायों की तरह हैं। लार्ड स्टैम्प इनकी वृद्धि के पाँच कारण बतलाए हैं—(१) युद्ध के कारण समाज की वर्गीय बनावट में परिवर्तन होना (२) सरकार की बढ़ती आवश्यकताएँ (३) अप्रत्यक्ष करों को संतुलित करने का प्रयास करना (४) मुद्रा-स्फीति को रोकने के एक साधन के रूप में (५) शराबखोरी बन्द करने के लिए।

करों के कुछ और वर्ग
(Other Types of Taxes)

आय-कर बनाम पूँजी-कर (Income-tax vs Capital-tax):—कर आय के आधार पर बिठाया जा सकता है या जायदाद के पूँजीगत मूल्य के आधार पर। कहा जाता है कि आमदनियों पर कर लगाने से राजस्व का जो कोष मिलता है वह उस कोष से

अधिक होता है जो जायदाद पर कर लगाने से मिलता है। लेकिन अगर किसी जायदाद से जो आमदनियाँ प्राप्त होती हैं उनपर समान अनुपात से कर लगाया जाय तब अन्तर की कोई संभावना नहीं। साधारणतया यही देखा जाता है कि सभी जायदादों की वार्षिक आमदनी और पूँजीगत मूल्य के अनुपात समान नहीं होते।

जब सरकार कर देने की सामर्थ्यानुसार किसी के ऊपर कर लगाना—चाहती है तब वह उसकी आय के अनुसार ही कर लगाती है। जिसकी जितनी ही अधिक आमदनी होगी उसपर उतना ही अधिक आय-कर लगाया जायगा। व्यवसायियों पर आय-कर आसानी से लगाया जा सकता है।

लेकिन जो व्यक्ति किसी-न-किसी पेशा में लगे रहते हैं उनकी खालिस आमदनी का निर्धारण करना मुश्किल है। उनकी जायदाद पर कर लगाना अधिक सुविधा जनक होता है। कर की दर अगर ठीक से निर्धारित कर दी जाय तो चाहे आय-कर लगाया जाय या पूँजी या जायदाद-कर, बराबर ही रकम कर में मिल सकेगी। प्रो० मेहता और अग्रवाल ने एक साधारण उदाहरण दिया है। मान लीजिए किसी व्यक्ति के पास कोई जायदाद है जिसका पूँजीगत मूल्य २००० रुपया है। वह प्रतिवर्ष १०० रुपया की आय देती है। अगर सरकार उसके ऊपर आय-कर लगावे तब आय-कर की दर १ रुपया प्रति-शत होगी। अगर वह पूँजी या जायदाद-कर लगावे तो कर की दर १०५ प्रतिशत होगी। आय-कर और पूँजी-कर का संवहन (इन्सिडेन्स) दो हालतों में समान होगा:—(१) कर की दर भली तरह से संतुलित हो। (२) जब खालिस आय और बेखालिस आय के बीच का अनुपात सभी हालतों में समान हो।

फिर भी हम इस बात को भुला नहीं सकते कि पूँजी या जायदाद का मूल्यांकन करना कठिन है और इसलिए आय पर कर लगाना ही अच्छा होता है।

यहाँ एक बात को स्पष्टतया जान लेना चाहिये। कर को आमदनी से दिया जा सकता है या उसे पूँजी (जायदाद) से दिया जा सकता है। सरकार किसी भी आमदनी के अनुपात में कर लगा सकती है मगर वह उसे अपनी पूँजी से चुकता कर सकता है। उसी तरह सरकार किसी की पूँजी के अनुपात में कर लगा सकती है मगर वह अपनी आमदनी से उसे चुकता कर सकता है।

व्यक्तिगत कर बनाम अव्यक्तिगत (वस्तु गत) कर (Personal tax vs Impersonal tax):—आय-कर को लोग व्यक्तिगत कर तथा नमक, आदि वस्तुओं पर लगाए करों को लोग अव्यक्तिगत कर कहते हैं, लेकिन यह भ्रमपूर्ण है। आय-कर आमदनी पर लगाया जाता है, आदमी पर नहीं। यह ठीक है कि उसे कोई आदमी ही देता है। उसी तरह अव्यक्तिगत कर यद्यपि वस्तु पर लगाया जाता है फिर भी उसे देनेवाला आदमी ही होता है। "Commodities do not have a bank account out of which to pay a tax" (Dalton) "पोल टैक्स" को व्यक्तिगत कर कह सकते हैं क्योंकि यह व्यक्ति-व्यक्ति पर लगाया जाता है।

फिर भी दोनों प्रकार के करों में इस बात से एक भिन्नता पाई जाती है कि जहाँ व्यक्तिगत कर किसी खास व्यक्ति या व्यक्तियों के खास समूह पर लगाया जाता है वहाँ अव्यक्तिगत कर (वस्तु-कर) किसी खास वस्तु पर लगाया जाता है।

मूल्यगत कर बनाम परिमाणगत कर (Ad valorem Tax us Specific Tax):—मूल्यगत कर किसी चीज के मूल्यानुसार लगाया जाता है। जब इस वस्तु का मूल्य घट या बढ़ जाता है तब यह कर भी घट या बढ़ जाता है। परिमाणगत कर किसी वस्तु के परिमाण के अनुसार लगाया जाता है चीनी के ऊपर प्रतिटन, प्रति बोरा, छाता के ऊपर प्रति छाता इस तरह के कर की दर तय की जा सकती है।

—o-:⁂:-o—

द्वादश अध्याय

कर-संवहन का प्रश्न तथा उसका सामान्य सिद्धान्त

Problem of Incidence of a Tax And Its General Theory)

पूर्ण प्रतियोगिता के तत्वावधान में
(Under Perfect Competition)

कर-संवहन के प्रश्न के ऊपर विचार करने के पूर्व हम पूछ सकते हैं—(१) क्या कोई कर सामान्य है या विशिष्ट ? (२) क्या पूँजी की गत्यात्मकता पूर्ण है ? (३) क्या जिस वस्तु पर कर लगाया जाता है उसकी माँग इससे संकुचित होती है ? ये माँगपक्षीय प्रश्न हैं। पूर्तिपक्षीय प्रश्न भी कुछ हैं-(१) उस वस्तु का उत्पादन उत्पत्ति के किस नियम के तत्वावधान में हो रहा है ? (२) क्या वह तैयार (अन्तिम) वस्तु या एक मध्यम या बीच-बीच का (इन्टरमीडियरी) वस्तु है ? (३) क्या उसकी पूर्ति 'संयुक्त' (Joint) है ? (४) पूर्ति लोचपूर्ण है या लोचहीन ?

इन प्रश्नों के पूछने की मंशा यह है कि जितना ही सामान्य कोई कर होगा उसकी शिफ्टींग की गुंजाइश उतनी ही कम होगी और जितना ही अधिक विशिष्ट कोई कर होगा कर की शिफ्टींग की जगह उतनी ही विशेष होगी। उसी तरह, मशीन या उस उद्योग में लगी पूँजी, आदि की प्रकृति जितनी ही विशिष्ट होगी उसकी गत्यात्मकता उतनी ही कम होगी। शिफ्टींग की गुंजाइश कम

होगी। पूँजी-(मशीन, मकान, आदि) के दो भेद होते हैं—प्रवहन-शील (सरकुलेटिंग या फ्लोटिंग) और स्थिर (फिक्सड)। स्थिर पूँजी की अधिकता रहने पर उत्पादकों को कर के भार को अधिक सहना पड़ता है। प्रवहनशील पूँजी की प्रधानता रहने पर कर का बोझ ग्राहकों या क्रेताओं के मत्थे मढ़ा जा सकता है। कहने का मतलब है कि उत्पादक और उपभोक्ता अपने-अपने ढंग से शिफ्टींग और इन्सिडेन्स की मात्राओं का निर्णय करते हैं। अतएव यहाँ पर कैंची का उदाहरण दिया जा सकता है। उसकी दो धारें माँग-पक्ष और पूर्ति-पक्ष हैं और दोनों के घात-प्रतिघात, क्रिया-प्रक्रिया के फलस्वरूप कर-संवहन का निर्धारण होता है। सिद्धान्त के रूप में हम इतना ही कह सकते हैं कि पूँजी की गत्यात्मकता की मात्रा जितनी ही कम होगी शिफ्टींग का कार्य उतना ही धीमा और कम होगा। जब किसी प्लान्ट को दूसरे आदमी के हाथों बेच दिया जाता है और तब उसके हस्तान्तर से उसका मूल्य घट-बढ़ जाता है और तब उसका मूल्य उतना नहीं होगा जितना हस्तान्तरित होने से पूर्व था। Transferred Concern औ Going Concern में अन्तर है। इसी अन्तर के कारण नए फर्म किसी उद्योग में जल्दी से पदार्पण नहीं करते और पुराने फर्म एकाधिकारी बन जाते हैं।

उक्त परिच्छेद में हमने माँग-पक्ष के प्रथम दोनों प्रश्नों की व्याख्या कर दी है। एक तीसरा प्रश्न बच आ रहा है। वह है कर लगाने पर क्या चीज की माँग संकुचित होती है ? इसकी विशद व्याख्या हम आगे पृष्ठ १२५-१२७ में करेंगे। (पाठकों को कर-संवहन के प्रश्न का विवेचन करते समय उसका भी सांगोपांग वर्णन यहाँ करना होगा।)

तीसरे प्रश्न का संकेत माँग के लोचपूर्ण या लोचहीन होने से है। अर्थ-सचिव को कर लगाते समय इस समस्या के ऊपर दृष्टिपात करना पड़ता है। उसे वस्तुओं के स्वभाव और करों के इन्सिडेन्स पर विचार करना पड़ता है। उसे पोस्टकार्ड और लिफाफा के दामों

की सापेक्षता के ऊपर विचार करना पड़ता है। अगर किसी का दाम ऐसा बढ़ा दिया गया कि उसकी माँग एकदम घट गई और दूसरे की माँग इतना न बढ़ी की घटी पूरा हो सके तो यह ठीक नहीं कहा जायगा। उसी तरह बिजली की माँग की लोच उसके उपयोग के ऊपर निर्भर करती है। उसके कतिपय उपयोग हो सकते हैं। खाना बनाने के लिए बिजली की माँग लोचपूर्ण, प्रकाश और गरमी पाने के लिए उसकी माँग लोचहीन हुआ करती है। अगर उसका चार्ज बढ़ा दिया गया तो उसका क्या प्रभाव पड़ेगा, यह विचारणीय है। फिर, रेलभाड़ा तय करते समय सुदूर यात्रियों से जो भाड़ा लिया जाता है वह जैसे-जैसे दूरी बढ़ती जाती है वैसे-वैसे प्रति मील के हिसाब से कम होता जाता है। इसे Telescopic Rate कहते हैं। इस तरह के दृष्टान्तों की संख्या बढ़ाई जा सकती है—घोड़ा और गाड़ी मुरब्बा और शीशा, मोटरकार और पेट्रोल, आदि पर कर किस तरह लगाया जायगा—अलग-अलग या किसी एक पर ?

यह माँग पक्ष की चर्चा हुई। अब पूर्ति पक्ष को लीजिये। इसके संबंध में चार प्रश्न हैं जो हम आरंभ में दे आए हैं। हम प्रथम और चतुर्थ प्रश्नों के उत्तर आगे पृष्ठ १२५-१२७ पर देंगे। यहाँ अवशिष्ट दो प्रश्नों के उत्तर अलम् होंगे। द्वितीय प्रश्न है—वस्तु तैयार है या अर्द्ध-तैयार ? जब तक कोई वस्तु खरीद नहीं ली जाती (अर्थात् उपयुक्त नहीं हो जाती) तब तक हम कैसे उसके इन्सीडेन्स का पहले ही अटकल लगा सकते हैं ? सूत और रूई के ऊपर कर लगाने से उसका इन्सीडेन्स किसपर पड़ेगा ? जब तक कपड़ा तैयार नहीं हो जाता और बिक नहीं जाता तब तक हम कैसे इसका उत्तर दे सकते हैं ? न्यूजप्रिंट पर कर लगाने का इन्सिडेन्स किस पर होगा ? आयात की वस्तुओं पर चुंगी लगाने का संवाहक कौन होगा, यह सुगमतापूर्वक नहीं कहा जा सकता। इन वस्तुओं के ऊपर लगे करों का इन्सिडेन्स अन्तिम वस्तुओं के द्वारा निश्चित होगा। तृतीय प्रश्न भी विचारणीय है। कई चीजों के एवजी होते हैं।

जैसे चाय के बदले कॉफी का उपयोग होता है। यदि चाय पर कर लगाया गया तो कॉफी की माँग बढ़ सकती है। कुछ वस्तु सहयोगी (Complementary) होने के कारण संयुक्त माँग में रहती हैं और एक की माँग कम या अधिक होने पर दूसरी की माँग भी कम या अधिक होगी। मिसाल के लिए पेन और रोशनाई, हवागाड़ी और पेट्रोल, टाइपराइटर और रिब्बन। कुछ चीजें संयुक्त पूर्ति की होती हैं—मुरब्बा और शीशा का बर्त्तन। अगर शीशे के बर्त्तन (बोइयाम या मृतबान) पर कर लगा दिया जाय तो इसका इन्सिडेन्स किस पर पड़ेगा ? ये सभी व्यावहारिक उपयोगिता की चीजें हैं।

आगे पृष्ठ १२५-१२७ में हमने माँग तथा पूर्ति की लोचों का जिक्र किया है। डाल्टन ने इस सिद्धान्त को एक रेखा-चित्र द्वारा प्रदर्शित किया है। वह नीचे दिया जा रहा है—
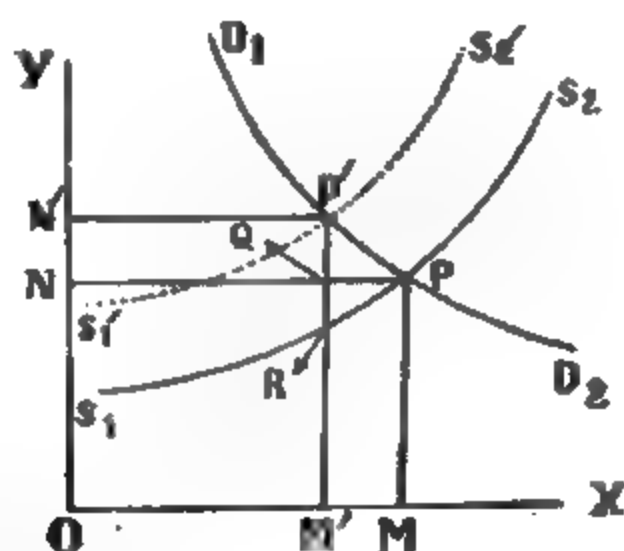
इस रेखा-चित्र में—

P′ R = प्रति इकाई (वस्तु की) कर

P′ M′ = नया दाम

P M = पुराना दाम

P′ N′ = नया बिका परिमाण (नया का माने है कर लगाने के बाद)

P N = पुराना बिका परिमाण (पुराना का माने है कर लगाने के पहले)

$P'Q$ = दाम इतना बढ़ जाता है

PQ = बिक्री इतना कम हो जाती है

अब यदि माँग की लोच को ed और पूर्ति की लोच को es द्वारा सूचित करें तो,

$$\because ed = \frac{MM'}{OM} \Big/ \frac{P'Q}{PM}$$

$$\because es = \frac{MM'}{OM} \Big/ \frac{QR}{PM}$$

$$\therefore \frac{es}{ed} = \frac{P'Q}{QR}$$

(Q. E. D.)

कर लगाने के कारण सम्पूर्ण माँग O M से घटकर OM′ हो जाती है। Subsidy—आर्थिक सहायता-देने पर माँग पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। इससे उक्त कथित सिद्धान्त सिद्ध हो गया—

"The direct money burden of a tax imposed on any object is divided between the buyers and the sellers in the proportion of the elasticity of supply to the elasticity of demand for it."

कर-संवहन के प्रश्न के ऊपर विचार करते समय हम वस्तु-स्थिति की कुछ घटनाओं को विस्मृत नहीं करते कि (१) किस तरह विक्रेता (या उत्पादक) कर को दाम में शामिल करते समय रीति-नीति का विचार करता है और भोक्ता की बचत को पूर्णरूपेण ग्रसित कर अपना रोजगार बिगाड़ना नहीं चाहता और (२) किस तरह कभी-कभी वह विक्रय-कर छोड़कर या even price लेता है न कि odd price (अधी-अधेला का हिसाब छोड़ देता, दो पैसा-एक पैसा आने के हिसाब में, आना-दो-आना रुपया के हिसाब में छोड़ देता है) और कभी ऐसा होता है कि ग्राहक के पास ही फूट दाम का पैसा

नहीं रहता और लाचारी को महसूस कर विक्रेता कुछ पैसा छोड़ देता है। खुदरा व्यापार—Retail Trade—के ऊपर भी हमें यहाँ दृष्टिपात करना होगा। तभी हम कर-संवहन के प्रश्न की समुचित समीक्षा कर सकते हैं।

अन्त में हम उन मान्यताओं (Assumptions) की ओर निर्देश करना चाहते हैं जिनके आधार पर इस प्रश्न का अध्ययन किया जाता है। पहली मान्यता तो यह है कि किसी वस्तु पर कर लगाने से उसके भोक्ताओं की क्रय-शक्ति बाधित नहीं होती है और उनके माँग-वक्र (माँग-सारिणियाँ) अक्षुण्ण रहते हैं। लेकिन यह मानना गलत है क्योंकि कर-लगाने पर भोक्ताओं को अपनी व्यय-प्रणाली को पुन-संगठित करना पड़ता है और सोचना पड़ता है कि वह उस चीज को इतने ही परिमाण में उपभोग करता रहे और दूसरी चीजों को कम मात्रा में उपभोग करे अथवा उसी चीज को ही कम मात्रा में। दूसरी मान्यता है कि कर लगाने के बाद भी पूर्ति-वक्र या पूर्ति-तालिका ज्यों की त्यों रहती है। लेकिन यह गलत ख्याल है। पूर्ति-पक्ष का संतुलन स्थायी नहीं होकर अस्थायी और आंशिक होता है और कर लगाने के बाद उसमें परिवर्तन होता है। इस सिद्धान्त की तीसरी त्रुटि यह है कि सिद्धान्त काल-तत्व पर उतना जोर नहीं देता जितना देना चाहिये यद्यपि हम आगे बतलायेंगे कि अल्पावधि में पूर्तिदाता कर का भार सह सकता है लेकिन दीर्घावधि में वह क्रेता के ऊपर उसे रख छोड़ेगा।

महाशया हिक्स ने कर-संवाहन के सिद्धान्त को यथार्थवादी अर्थशास्त्र का एक भाग बतलाया है। उनके अनुसार यह संतुलन की भावना पर आश्रित है। इसका अध्ययन आंशिक विश्लेषण-पद्धति द्वारा होता है। कर लगाने पर सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर जो प्रभाव पड़ते हैं उनका संबंध समाज के कार्यों के उच्च स्तर के साथ स्थापित करने की चेष्टा इस सिद्धान्त में की जाती है। इन्सीडेन्स के दो भेद किये गये हैं—स्वाभाविक या फौरमल इन्सीडेन्स और प्रभावोत्पादक

या एफेक्टिव इन्सीडेन्स। स्वाभाविक संवहन में किसी कर से प्राप्त राजस्व के वितरण-पक्ष पर विचार किया जाता है। प्रभावोत्पादक संवहन में कर देने वाले व्यक्ति (या व्यक्तियों) की संवेदनशीलता पर पड़े प्रभावों का उल्लेख किया जाता है। हिक्स कहती हैं "The Incidence of a tax on a commodity is completely a market phenomenon of the Marshallian curves of demand and supply, illustrating the fact that when a tax is imposed the demand for the commodity shriks, and contrarily, when a subsidy is extended, it expands."

† अर्थशास्त्र में मूल्य के सिद्धान्त की जो प्रधानता है सार्वजनिक अर्थनीति में इन्सिडेन्स के अध्ययन की भी वैसी ही प्रधानता है। यह भी माँग और पूर्ति की शक्तियों के घात-प्रतिघात की ही कहानी है। इसका अध्ययन बोझ को न्यायपूर्ण वितरण करने के विचार से करते हैं। बिना इसके सामाजिक न्याय नहीं हो सकता। धनिकों पर ज्यादा कर लगाकर उसकी आय को गरीबों की भलाई में खर्च करना है। (If you have to tax the rich, the incidence must be on the rich otherwise the objective is not served. We must, therefore, follow each tax and make sure that it finds a rich home to rest in.)

(१) अन्य बातों के समान रहने पर, किसी चीज के लिये माँग जितनी ही अधिक लोचपूर्ण होगी, विक्रेताओं पर ही कर का भार उतना अधिक पड़ेगा।

(२) अन्य बातों के समान रहने पर किसी चीज की पूर्ति

---

† यहाँ से लेकर ११७ पृष्ठ के प्रथम परिच्छेद तक जितना अंश है उसको १२० पृष्ठ के प्रथम परिच्छेद के बाद पढ़ना अच्छा होगा—लेखक

जितनी ही अधिक लोचपूर्ण होगी, कर के भार को भोक्ताओं पर रहने की उतना ही अधिक संभावना होगी। जब किसी चीज के लिये माँग अलोचपूर्ण होती है तब क्रेतागण उस चीज का दाम यदि कर के बराबर बढ़ भी जाय तो भी अपनी माँग कम नहीं करेंगे। ऐसी हालत में कर का इन्सिडेन्स क्रेताओं पर होगा। यदि चीज के लिये माँग लोचपूर्ण हो तब क्रेता अपनी खपत दाम के बढ़ते ही घटा देंगे। इसलिये कर का इन्सिडेन्स विक्रेताओं पर होगा। इसी तरह यदि पूर्ति लोचपूर्ण है तब दाम बढ़ने के साथ ही माँग कम हो जाएगी। इसलिये कर का इन्सिडेन्स विक्रेताओं पर होगा। इसी तरह यदि पूर्ति लोचपूर्ण है तब दाम बढ़ने के साथ ही माँग कमहो जायगी, परन्तु इसके साथ ही पूर्ति भी कम कर दी जायगी। इसलिए उत्पादक कर के बराबर दाम को बढ़ा सकेंगे। पूर्ति की लोच को विचारते समय हमें अवधि पर भी विचार करना होगा। अल्पावधि में चीज की पूर्ति कम नहीं की जा सकती, परन्तु दीर्घावधि में माँग के अनुसार पूर्ति को संतुलित किया जा सकता है। यही कारण है कि अल्पावधि में चीज की पूर्ति अलोचपूर्ण होती है। दीर्घावधि में वह लोचपूर्ण होती है। इसलिए भले ही अल्पावस्था में कर का इन्सिडेन्स विक्रेता पर हो, परन्तु दीर्घावधि में वह भोक्ताओं पर पड़ेगा। जिस वस्तु के दूसरे एवजी रहते हैं उसकी माँग लोचपूर्ण होती है। ऐसी दशा में कर का भार अन्तत: विक्रेताओं पर पड़ता है।

यदि कोई चीज "स्थायी वृद्धि" वाले नियम की अवस्था में उत्पन्न की जाय तो उसकी कीमत उस पर लगे कर की रकम से अधिक बढ़ नहीं सकती है, चाहे लोगों के द्वारा कितनी ही रकम क्यों न माँगी जाय। जब कोई चीज ह्रासमान वृद्धि नियम की अवस्था में उत्पन्न की जाती है तब कीमत के बढ़ने से माँग भी घटेगी और माँग घटने से उत्पादन भी कम होगा। इससे उत्पादन-व्यय घटेगा। इसलिए चीज की कीमत कर से अधिक नहीं होगी, उससे कम ही बढ़ेगी। यदि उस चीज का उत्पादन "बढ़ती आमदनी" के नियम की

अवस्था में तैयार होती है तब दाम बढ़ने से माँग घटेगी और माँग घटने से उत्पादन भी घटेगा। फलतः उत्पादन-व्यय बढ़ेगा। कीमत भी बढ़ेगी। यह बढ़ती कर की रकम से अधिक हो सकती है।

भोक्ताओं की चीज पर कर लगाने से गरीबों का बहुत नुकसान होता है। सरकार को व्यसन की चीजों पर ही कर लगाना चाहिये क्योंकि उनका उपभोग धनी लोग ही करते हैं। सरकार का कर्त्तव्य है कि वह उन चीजों पर कर नहीं लगावे जिनकी माँग बहुत ही लोचपूर्ण हो और जिनपर कर लगाने से भोक्ताओं की बचत की बड़ी क्षति हो। कच्चे मालों पर कर लगाना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उससे शिल्पवाले उद्योगों को धक्का पहुँचता है। उन उद्योगों पर भी कर नहीं लगाना चाहिये जो उत्पत्ति वृद्धि के नियम द्वारा शासित होते हैं। शिशु उद्योगों की उपजों पर भी कर नहीं लगाना चाहिये।

कर के संवहन (इन्सीडेन्स) के ऊपर विचार करते समय हमें कुछ भ्रान्तियों (fallacies) के संबंध में भी सोचना पड़ता है। पहली भ्रान्ति तो यह है कि "पुराना कर कोई कर नहीं" (An old tax is no tax)। (इसका विवेचन हम आगे करेंगे।) दूसरी भ्रान्ति यह है कि कुछ लोग बेमतलब के शब्दों के कुहासे में संवहन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। हम उनके मुख से "Diffusion" (प्रसारण) और "Absorption" (अवधारण) जैसे शब्द सुनते हैं। जैसा कि लार्ड मैन्सफिल्ड का कथन है—"I hold it to be true that a tax laid in any place is like a pebble falling into and making circles in a lake, till one circle produces and gives motion to another, and the whole circumsfrance is agitated from the centre"। उसी तरह कैनार्ड ने कर लगाने की क्रिया की उपमा खून निकालने (cupping) की क्रिया से दी है—"Aftertaking the blood from the vein it is no more bloodless than any of the other veins

"owing to the circulation of the blood through the body" † लेकिन यह सिद्धान्त पूर्ण और स्वतंत्र प्रतियोगिता की पूर्व कल्पना कर लेता है और संघषण (friction) के अस्तित्व को विस्मृत कर देता है, लेकिन हम जानते हैं कि संघर्षण के कारण किसी वस्तु के ऊपर लगाये कर का हस्तान्तर नहीं हो पाता और कर-भार संवहन की प्रतियोगिता के तत्त्वावधान वाला सिद्धान्त मिथ्या पड़ जाता है।

डाल्टन का कथन है कि जबतक हम किसी कर के भार को निर्धारित नहीं कर पाते तब तक तो सारे कर ही प्रसारित और अवधारित कहे जायेंगे। लेकिय दरअसल में बात यह है कि किसी कर का भार किसी दूसरे कर के भार से अधिक नहीं होता। कर की प्रणाली स्वत: बुरी है और कोई कर-प्रणाली दूसरी कर-प्रणाली से अच्छी या बुरी नहीं होती। यह है डाल्टन की मीठी चुटकी ! जो लोग प्रसारण एवं अवधारण की ओट में बातें करते हैं वे करों के संवहन तथा प्रभावों के अध्ययन करने की कठिनाइयों से भागना चाहते हैं। "The conclusion of their argument is akin to that of those philosophers who maintain that nothing definite can be known except that nothing can be definitely known, but that all is probably for the best" तीसरी भ्रान्ति करों के "पूँजीकरण के सिद्धान्त" (Doctrine of capitalisation) को लेकर है। यह तर्क दिया जाता है कि भूमि पर लगाये गये कर या आय के कम-बेश स्थायी जरियों (जैसे, सरकारी प्रतिभूत्तियों) पर लगाये कर से उनका विक्रय-मूल्य गिर (depress) जाता है जब वे लगाये जाते हैं और उनके भावी क्रेताओं पर उन करों का कोई भार हस्तान्तरित नहीं होता, क्योंकि

† Every old tax is good, every new tax is bad but the new becomes good in time. (Canard)

वे इस बात को जानते हैं कि इन चीजों पर कर देना पड़ता है और इसलिये वे उन चीजों का कम दाम देना चाहते हैं। लेकिन वे लोग कम दाम इसलिये देना चाहते हैं कि वे महसूस करते हैं कि उन्हें कर देना पड़ेगा। अगर उन चीजों पर से कर उठा लिया (repeal) जाय तो उनके स्वामियों को इस अर्थ में फायदा पहुँचेगा कि उन चीजों का विक्रय-मूल्य बढ़ जायगा या उनकी आय बढ़ जायगी या दोनों हो सकता है। अतएव इन चीजों के मालिकों को ही करों का संवहन करना पड़ता है। फिर, कुछ लोग यह तर्क पेश करते हैं कि किसी वस्तु के ऊपर के कर-संवहन को हम उस वस्तु के दो कालों में दो मूल्यों को तुलना करके जान सकते हैं। दो कालों से मतलब कर लगाने के पूर्व तथा कर लगाने के अनन्तर के काल से है। तुलना एक ही देश के दो कालों या दो भिन्न देशों के दो कालों के बीच हो सकती है। जब देशों का सवाल होता है तब यह जरूरी नहीं कि अगर एक देश में किसी वस्तु के ऊपर कर लगा है तो दूसरे देश में भी उस वस्तु पर कर लगा ही हो, या अगर कर लगा है तो उसकी भी दर बराबर हो। लेकिन इस तर्क का दोष यह है कि कर लगे रहने पर तो हमें पर्याप्त आँकड़ा मिल सकता है, लेकिन जब कर लगा नहीं रहता है तब आँकड़े का मिलना कठिन हो जाता है। उस दशा में तुलना किस तरह से हो सकती है ?

अन्त में यह लिख देना असंगत नहीं होगा कि विभिन्न वस्तुओं की माँग और पूर्ति आपस में सम्बद्ध होती है। इससे किसी एक वस्तु पर लगाए हुए कर का भार दूसरी वस्तुओं पर पड़ सकता है। कर-भार का हस्तान्तर आगे की दिशा में हो सकता है या पीछे की दिशा में। मान लीजिये कपड़े पर कर लगाया गया है। अब उसका भार कपड़े पर पड़ा नहीं रहकर रूई पर भी पड़ सकता है। कर-भार का हस्तान्तर किस तरह का होगा, यह उपभोक्ता और उत्पादक की प्रकृति पर निर्भर करेगा। उनमें कौन सक्रिय (active) है,

कौन क्रियाहीन (Passive)। डिविटी का उत्पादक क्रियाहीन है और वह उपभोक्ता की प्रक्रियाओं को देखना चाहता है कि वह कर के भार को स्वयं सहन कर रहा है या हस्तान्तरित कर रहा है। सेलीगमैन का उपभोक्ता ही क्रियाहीन है और वह देखता रहता है कि प्रतियोगिता या एकाधिकार की अवस्थाएँ उत्पादक को अपनी वस्तु का दाम बढ़ाने देती हैं या नहीं ? डा० रॉबर्टसन "संवहन के सिद्धान्त" में "समय-तत्त्व" को प्रमुखता देते हैं।

यही कर के हस्तातर एवं संवहन का सिद्धान्त है लेकिन उससे प्रधान सिद्धान्त न्याय का है। प्रो० सेलीगमैन ने लिखा है "The theory of shifting of taxation is, therefore, an aid to but not a substitute for, the study of economic justice. As has been well said, the doctrine of incidence is neither the archangel nor the archfriend of the science of finance"।

पुराना कर कोई कर नहीं
"An old tax is no tax"
अर्थात् "कर-भार के प्रसारण का सिद्धान्त"
(Theory of the Diffusion of the tax-burden)

"An old tax is no tax" का मतलब है कि चूँकि कोई कर बहुत समय से अस्तित्व में रहा है इसलिये उसका बोझ किसी पर नहीं पड़ता। मील ने पुराने भूमि-कर का जिक्र किया है। पर यह गलत धारणा है। चाहे कोई कर पुराना ही क्यों न हो उसका इन्सिडेन्स, उसका प्रत्यक्ष मौद्रिक बोझ हो है और वह उनपर पड़ता है जो उसके हट जाने पर प्रत्यक्ष मौद्रिक लाभ उठावेंगे। उनकी आय बढ़ जायेगी। इसलिये ऐसे कर का इन्सिडेन्स अवश्य उनपर पड़ता है।

(डाल्टन)

भारतवर्ष में नमक कर लगता था। यदि "पुराना कर कोई कर नहीं" कथन मान लिया जाय तो उसको हटाना ठीक ही नहीं होता अब इस कथन की सत्यता विचारी जाय। एक बात तो यह है कि पुराना कर पूँजीकृत—Capitalised—हो गया रहता है। प्रतिवर्ष कर देते-देते लोग उसके बोझ को नहीं मालूम करते। परन्तु सभी कर पूँजीकृत नहीं होते। टिकाऊ दौलत पर का कर ही और वह भी विभेदक (Differential) कर ही, पूँजीकृत होता है। दूसरी बात यह है कि डिफयूजन थ्यूरी—Diffusion Theory—के अनुसार प्रत्येक कर समाज में इस तरह फैल जाता है कि उसके ठीक इन्सिडेन्स को पहचानना असंभव होता है। इस फैलाव के द्वारा अन्तिम बोझ समूचे समाज पर प्रशस्त हो जाता है। कर लगाना रक्त-निकास की तरह है। एक नस से रक्त निकाल चुकने पर वह नस रक्त-हीन नहीं हो जाती, बल्कि दूसरी नसों से खून दौड़कर उसको भर देती है। कर के बारे में यही नियम लागू है। एक खास अंश पर कर लगने पर वही अंश उसका बोझ नहीं ढोता, बल्कि सभी अंशों में बँट जाता है। इस तरह पुराना कर समयान्तर में फैल चुकता है। कोई भी व्यक्ति कर का अनुभव नहीं करता।

परन्तु यह कथन सार्थक नहीं। कर के समाज में फैल चुकने पर भी हम कर का इन्सिडेन्स महसूस कर सकते हैं। कर भार-हीन भी नहीं होता। यदि नमक कर हटा दिया जाय तो नमक का भाव कम हो जायेगा और भोक्ता इससे लाभान्वित होंगे। इस तरह कर का इन्सिडेन्स जरूर ही भोक्ताओं पर होगा। इसलिये पुराने कर को कर न समझना मूर्खता है। पुराने घाव को घाव नहीं समझना उसी तरह मूर्खता है। यह जरूर है कि जब कोई कर लगता है तो लोग विरोध करते हैं, परन्तु कर के न हटने पर वह धीरे-धीरे जमता जाता है, लोग उससे अभ्यस्त हो जाते हैं। फिर भी पुराना कर कर ही है और उसका भार कुछ लोग सतत महसूस करते हैं। उसके हटने से लोग लाभान्वित होते हैं।

कुछ करों की शिफ्टींग होती ही नहीं यथा 'इनहेरिटेन्स' कर उनका 'डिफ्यूजन' भी नहीं होता। आज स्वतंत्र तथा पूर्ण स्पर्द्धा भी नहीं जिससे कर की शिफ्टींग में कठिनाई होती है। इन वजहों से हम यह नहीं मानते कि "पुराना कर कोई कर नहीं"। (इसके बारे में पीछे के अंश में भी कुछ लिख आये हैं।)

करों का पूँजीकरण
(Capitalisation of Taxes)

पीछे हम कह आए हैं कि जब किसी स्थायी जायदाद पर आय-कर लगाया जाता है तब उस जायदाद से मिलने वाली वास्तविक आय कम हो जाती है और इसलिए उस जायदाद का मूल्य भी घट जाता है। इस क्रिया को अर्थशास्त्रीय भाषा में करों का पूँजीकरण कहते है। बाजार में सूद की जो चालू दर होती है उसीके आधार पर कर की रकम का पूँजीकरण किया जाता है। जायदाद का विक्रय-मूल्य कर की रकम के बराबर घट जाता है। मान लीजिये किसी भू-खंड से २०० रुपया लगान में मिलता है। मान लीजिये सूद की दर १० रुपया प्रतिशत है। इस हिसाब से इस भू-खंड का मूल्य २००× (१००÷१०)=२००० रुपया होगा। अब मान लीजिए सरकार भूमि के लगान पर १० प्रतिशत की दर से कर लगाती है। तब कर देने के बाद असली लगान १८० रुपया होगा। अब उस भू-खंड का मूल्य १८०× (१००÷१०)=१८०० रुपया होगा। भविष्य में खरीददार इस बात का ख्याल रखेंगे कि उस भू-खंड को मोल लेने पर उन्हें १० प्रतिशत कर भी देना पड़ेगा। इसलिए उसको खरीदते समय वे उसकी कम कीमत लगावेंगे जिससे उन्हें अपनी रकम पर कम से कम १० प्रतिशत सूद मिले। जब वे कम दाम में उस जमीन को मोल ले लेते हैं तब आगे चलकर वे भले ही प्रति वर्ष कर देते रहें, लेकिन कर का भार वे महसूस नहीं करेंगे, क्योंकि उन्होंने पहले ही उसे भू-खंड बेचने वाले के ऊपर डाल दिया है।

लेकिन हर हालत में कर का पूँजीकरण नहीं हो जाता। कर के पूँजीकरण के लिए खास शर्तों का पूरा होना अनिवार्य है :—(१) कर ऐसी टिकाऊ स्थायी जायदाद पर लगाना चाहिये जिसकी पूर्ति लोचहीन हो। अगर जायदाद स्थायी व टिकाऊ नहीं है तो उसके मूल्य में ह्रास होने से उसकी पूर्ति भी कम हो जा सकती है। पूर्ति कम होने से उसका दाम घटने के बजाय बढ़ चलेगा और उसका भार क्रेता पर ही पड़ जायगा। (२) उस कर को भेदात्मक (differential) और एकाकी (exclusive) होना चाहिये। पूँजी लगाने के और जरियों पर कर नहीं लगाना चाहिये। अगर उनपर कर लगे भी तो उसकी दर अपेक्षाकृत कम होनी चाहिये। तभी कर का पूँजीकरण मुमकिन हो सकता है। (३) कर को एकाएक लगाना चाहिये कि किसी को पहले मालूम नहीं होने पावे। अगर किसी को मालूम हो गया तब तो शुरू से ही बट्टा लगाने लगेगा।

मान लीजिये पूँजी लगाने के दो ही जरिये हैं—भूमि या सरकारी प्रतिभूतियाँ (सेक्यूरीटिज)। सरकारी प्रतिभूतियों में पूँजी लगाने से १० प्रतिशत सूद मिलता है। उस हालत में लोग भूमि में अपनी पूँजी तब तक नहीं लगायेंगे जब तक कि उन्हें कम-से-कम १० प्रतिशत सूद न मिले। इसलिये जब भूमि पर १०. प्रतिशत कर लगाया जाता है तब जिस भू-खंड से १०० रुपया है और खरीददार केवल १८०० रुपया ही लगान में मिलता है देंगे। अगर सरकारी प्रतिभूतियों पर भी १० प्रतिशत कर लगा दिया गया तब जायदाद के क्रेताओं का दूसरी जगह अधिक अच्छा सौदा या शर्तें नहीं मिल सकेंगी। ऐसी अवस्था में कर का पूँजीकरण नहीं हो सकता।

आय-कर सामान्य और व्यापक (General and Universal) होता है और उसका पूँजीकरण नहीं हो सकता। लेकिन रियायत-कर देने के लिए जो पहले से बीमा की जाती है उसमें पूँजीकरण हो जाता है। अतिरिक्त मुनाफों (Excess Proficts)

पर लगाए कर का भी पूँजीकरण हो सकता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए दो कम्पनियाँ हैं—पहली कम्पनी में ५० प्रतिशत मुनाफा हो रहा है, दूसरी कम्पनी में १० प्रतिशत। तब पहली कम्पनी के बराबर रकम के शेयर का मूल्य दूसरी कम्पनी के उसी रकम के शेयर के मूल्य से पचगुना अधिक होगा। अगर पहली कम्पनी पर एक कर लगाया जाय जिसके कारण मुनाफा की दर ३० प्रतिशत हो जाय तब उस कम्पनी के शेयर का मूल्य दूसरी कम्पनी के शेयर के मूल्य का तीगुना हो जायगा। फिर, एकाधिकार से प्राप्त होने वाले मुनाफे पर कर लगाने से मुनाफा घट जायगा और एकाधिकारी की जायदाद का विक्रय-मूल्य कर के पूँजीकरण के मूल्य की रकम के बराबर कम हो जायगा। (इस विषय के बारे में हम पीछे इसी अध्याय में कुछ और लिख चुके हैं।)

त्रयोदश अध्याय

एकाधिकारों पर लगाए करों का संवहन

(Incidence of Taxes on monopolies)

एजवर्थ ने कहा था कि एकाधिकारों पर कर लगाने का प्रश्न अनिश्चयता से ओत-प्रोत है। लेकिन इस प्रश्न का अध्ययन करना परम आवश्यक है क्योंकि एकाधिकार सामाजिक अपकारों के वास्तविक कारण हैं। एकाधिकारों पर कर लगाकर उसकी रकम वसूल कर लेना सहज नहीं। इसमें बड़ा खतरा रहता है। फिर भी संतोष की बात यही है कि कोई उद्योग ऐसा नहीं जो पूर्णतया एकाधिकारी कहा जा सके। जो कुछ भी हो जिस रूप में जहाँ कहीं भी एकाधिकार-प्राप्त उद्योग-धंधे हैं वे उत्पादन के साधनों के आदर्श वितरण को दूषित कर देते हैं और इसके फलस्वरूप सामाजिक उत्पादन उचित स्तर से कम होता है। इसीलिए कर लगाने का सवाल उठता है।

एकाधिकारी पर कर लगाने के निम्नलिखित तीन ढंग हैं—(१) एक बार में पूरी रकम का कर (Lump Sum Tax) लगाना (२) उसके मुनाफे पर प्रतिशत कर (Percentage Tax) लगाना (३) सम्पूर्ण उत्पादन के अनुपात में कर (Proportionate to Output) लगाना। जहाँ तक पहले ढंग का सवाल है ऐसे कर का बोझ एकाधिकारी पर ही पड़ता है और वही उसे ढोता भी है, क्योंकि वह इतना उत्पादन कर रहा है जिससे अधिकतम मुनाफा मिले और दाम भी ऐसा लेता है कि उसे अधिकतम मुनाफा मिल सके। वह एकाधिकारी दाम चार्ज कर रहा है। ऐसी

हालत में वह क्रेताओं पर कर के बोझ को फेंक नहीं सकता। वह काफी मुनाफा हस्तगत कर रहा है और इसलिए दाम बदलने नहीं पाता। अब दूसरे ढंग पर विचार कीजिए। इसके तत्त्वावधान में भी कर का बोझ एकाधिकारी पर ही होता है। यह ढंग आनुपातिक कर-प्रणाली की तरह है। ऐसा क्यों होगा? इसका उत्तर वही है जो पहले ढंग के साथ दिया जा चुका है। लेकिन प्रो० शीराज का अपना एक मत है। वे ऐसे ढंग से लगाए कर-संवहन पर "कर के परिमाण" की दृष्टि से विचार करना चाहते हैं। यदि कर की रकम बड़ी है और एकाधिकारी जो दाम ले रहा है वह एकाधिकारी दाम नहीं (हम "आधुनिक अर्थशास्त्र" में एकाधिकारगत मूल्य के संबंध में उन दशाओं का उल्लेख कर चुके हैं जिनमें एकाधिकारगत् मूल्य प्रतियोगितागत मूल्य से कम होता है।) तब वह कर के बोझ को कुछ अंश में ग्राहकों के ऊपर डाल सकेगा और दाम में कर की कुछ रकम शामिल कर सकेगा। परन्तु कर की रकम मामूली है तब वह ऐसा नहीं करेगा। अब तीसरे ढंग पर गौर फरमाइए। जब कोई कर एकाधिकारी पर इस ढंग से लगाया जाता है तब क्रेताओं के ऊपर उसके बोझ को डालने की सभी प्रवृत्ति होगी। कर उत्पादन की प्रत्येक इकाई आनुपातिक, प्रगतिशील या अप्रगतिशील पद्धति से लगाया जा सकता है। ऐसी दशा में दाम बढ़ जायगा। लेकिन दाम कितना बढ़ेगा यह जल्दी से नहीं तय किया जा सकता। कर का भार भोक्ताओं और एकाधिकारी-दोनों दलों पर पड़ेगा। लेकिन कितना-कितना? यह एक पेचीदा और टेढ़ा प्रश्न है।

एकाधिकारगत दाम-निर्धारण और प्रतियोगितागत दाम-निर्धारण में प्रधान अन्तर यह है कि जहाँ द्वितीय कार्य माँग तथा दाम की शक्तियों के द्वारा होता है वहाँ प्रथम कार्य मुनाफा—Revenue—की शक्तियों द्वारा। एकाधिकारी को दाम बिठाते समय कई बातों पर विचार करना पड़ता है—(१) निकट एवजी वस्तुओं का अस्तित्व है या नहीं (२) सरकारी नियंत्रण है या नहीं (३) लोकमत

कैसा है और उपभोक्ता की बचत के साथ उसका क्या संबंध है (४) संभावित प्रतियोगिता (Potential Competition) की उत्पत्ति की संभावना है या नहीं। इन बातों पर विचार कर कोई एकाधिकारी अपनी वस्तु का दाम इस तरह ठीक करता है कि उससे उसे सर्वाधिक मुनाफा मिल पाता है। (यह कैसे होता है हम एकाधिकारगत मूल्य-निर्धारण में दिखला चुके हैं)

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर तीन बातों के ऊपर निर्भर करेगा—(१) कर की रकम का अधिक या कम होना (२) माँग का नियम—माँग की लोच (३) पूर्ति का नियम—पूर्ति की लोच। यद्यपि पहले-पहल कर का बोझ एकाधिकारी के ऊपर पड़ेगा (Impact) तथापि बाद में वह समूचे कर को या कर के आंशिक भाग को अपने ग्राहकों के कंधों के ऊपर डाल सकेगा। इसमें कुछ समय लगेगा। अतएव हमें अपने मस्तिष्क में काल-तत्त्व को स्मरण रखना होगा।

पिछले सिद्धान्त में हम बतला आए हैं कि जब माँग लोचहीन (और पूर्ति लोचपूर्ण) होगी तब किसी वस्तु पर लगाये कर का इन्सिडेन्स ग्राहकों पर पड़ेगा और जब माँग लोचपूर्ण (और पूर्ति लोचहीन) होगी तब किसी वस्तु पर लगाए कर का इन्सिडेन्स विक्रेताओं पर पड़ेगा। यही बात यहाँ भी सत्य है। लेकिन हमें पुनः पूर्ति-पक्ष में चरितार्थ होने वाले उत्पत्ति के नियमों के ऊपर दृष्टिपात करना होगा।

यदि उस वस्तु की उत्पत्ति "उत्पत्ति ह्रास" नियम द्वारा शासित हो रही है तो कर लगाने पर पहले तो दाम बढ़ेगा और माँग घट जायगी और पूर्ति (उत्पादन) भी कम हो जायगी। उत्पादन-व्यय भी कम हो जायगा, क्योंकि पहले से कम उत्पादन हो रहा है। दाम में कर की रकम के बराबर वृद्धि नहीं होने पावेगी। दाम बहुत नहीं बढ़ने पायगा। यदि उस वस्तु की उत्पत्ति "उत्पत्ति वृद्धि" नियम द्वारा शासित हो रही है तो कर लगाने पर तो तुरंत दाम बढ़ जायगा जिससे माँग कम हो जायगी और तब उत्पादन भी कम करना

होगा। कम उत्पादन होने से उत्पादन-व्यय बढ़ जायगा और दाम में कर की रकम से भी अधिक वृद्धि हो सकती है। दाम बहुत बढ़ जायगा। अगर माँग लोचहीन है तो दाम में ज्यादा वृद्धि होगी। अगर पूर्ति कम लोचपूर्ण है और माँग ज्यादा लोचपूर्ण तो दाम में कम वृद्धि होगी। ऐसा भी हो सकता है कि एकाधिकारी कर का सर्वाधिक अंश स्वयं चुकावे और भोक्ताओं को कम अंश चुकाना पड़े। इससे क्रेताओं को फायदा हो सकता है।

बहुत-से लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन एकाधिकारी उद्योगों पर कर लगाना चाहिये जो क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियमों द्वारा शासित होते हैं और वैसे एकाधिकारी उद्योगों को आर्थिक मदद देनी चाहिये जो क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम के वशीभूत हैं। जो लोग ऐसा निष्कर्ष देते हैं वे राजनीतिक प्रभाव डालना चाहते हैं।

लेकिन एकाधिकार के प्रसंग में कर-संवहन के प्रश्न पर अकाट्य मत देना टेढ़ी खीर है। इसीलिए प्रो० शीराज ने लिखा है—No part of the theory of the incidence is so full of pitfalls as the theory of the incidence of taxes on commodities, especially those produced under monopoly conditions। बराबर इस बात का खतरा रहता है कि हम सैद्धान्तिक विवेचन और तर्क-भावना की सीमा का उल्लंघन कर व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर अपना विचार देने लगें। (We may drop the theorical reasonings and indulge in the practical experiences aroused by the monopoly business.)

इस सिद्धान्त की आलोचना हुई है :—(१) यह सिद्धान्त मान लेता है कि 'एकाधिकारी' एकाधिकारी मुनाफा अर्जित कर रहा है और 'एकाधिकारी' दाम ले रहा है। लेकिन वास्तव में ऐसी चीज नहीं भी हो सकती है। एकाधिकारी राज्य के हस्तक्षेप और भावी

प्रतियोगिता से अभिभूत भी हो सकता है। कोई भी एकाधिकारी अपना दाम इस सिद्धान्त के आधार पर तय नहीं करता। दाम का निर्धारण तो अटकलबाजी (guess-work) है। यह पूर्णतया मनमाना (arbitrary) होता है। ऐसी हालत में कर-संवहन का प्रश्न अनिश्चित (indeterminate) कहा जायगा। (२ हम मान लेते हैं कि क्रेताओं का माँग-वक्र ज्यों-का-त्यों रहता है, लेकिन यह संभव है कि दाम बदलने पर वह फिर से ठीक किया जाय और इससे उसमें भी हेर-फेर हो। (३) हम प्रारंभ में व्यय-वक्र को भी स्थिर मान लेते हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं। जब कोई कर लगाया जाता है तब व्यय-वक्र में भी उथल-पुथल होती है। हम बहिर्गत सुविधाओं (Extenal Economies) के प्रभावों को भुला नहीं सकते। सरकार एकाधिकारी पर कर लगाने के बाद जो राजस्व प्राप्त करती है उसे वह सार्वजनिक कार्यों में खर्च करती है। उत्पादन के कुछ साधनों का मूल्य कम हो जा सकता है। यातायात और आवागमन के भाड़े कम हो सकते हैं, कच्चे मालों की कीमतें घट सकती हैं।

एकाधिकारी कोई मुँछल्ला आदमी नहीं जो मुँह में चुरुट लगाए उधम मचाता हुआ जाय और सरकारी कानूनों को भंग करने में शैतानी मजा लूटे! वह समझ-बुद्धि से काम लेता है। वह अपने क्रेताओं के हिताहित का विचार रखता है। उसके परम्परा-युक्त शस्त्र तीन है—(१) कीमत का नियंत्रण (२) उत्पादन का नियंत्रण (३) सर्वाधिक मुनाफा का नियंत्रण। प्रजातंत्र के उदय और उत्तरोत्तर प्रभाव से एकाधिकारों की गैर-सामाजिक प्रवृत्तियों का मोचन हो रहा है। अब एकाधिकारी क्रेताओं को कष्ट देने के बजाय अपने प्रतिद्वन्द्वियों को क्षेत्र से निष्कासित करने की धुन में रह रहे हैं।

डाल्टन ने लिखा है—यदि एकाधिकारी के द्वारा उत्पादन बढ़ाते जाने पर कर की दर घटाते जाँय तो यह "प्रेरणादाता कर"

(Incentive Tax) का एक दृष्टान्त होगा। इससे एकाधिकारी अपना दाम कम करेगा और अपना उत्पादन बढ़ावेगा। कभी-कभी सरकार उसे रिबेट भी दे सकती है जैसा कि वह संयुक्त-पूँजी की कम्पनी में करती है। इस नीति का एक गुण यह है कि इससे उत्पादन में कमी नहीं होने पाती। अगर सरकार एकाधिकारी पर अधिक कर लगाने लगे तो वह अपने प्रतियोगियों का गला घोंटी प्रचार द्वारा पराभूत कर उत्पादन को कम कर सकता है।

एकाधिकारी की एक विशेषता यह है कि वह दाम कितना है इसका उतना ख्याल नहीं करता जितना इस बात का ख्याल करता है कि उसका मुनाफा सर्वाधिक है या नहीं। अगर कम दाम लेने से भी उसको सर्वाधिक मुनाफा मिल जाय तो वह इसे मंजूर करेगा। एकाधिकार उन उद्योग-धंधों में कम बनते हैं जो उत्पत्ति ह्रास के नियम द्वारा परिचालित होते हैं। वे उन उद्योग-धंधों में पनपते और विकसित होते हैं जो उत्पत्ति वृद्धि के नियम द्वारा शासित होते हैं। ऐसे उद्योगों में उत्पादन-व्यय कम होता है। इसलिए दाम भी कम रखा जाता है।

ऐसा मुमकिन है कि दाम तो कम रखा जाय लेकिन वस्तु का गुण बदल दिया जाय। कम दाम पर घटिया-निकृष्ट चीज बढ़िया चीज के नाम पर बेची जा सकती है। तब सरकारी नियंत्रण ढीला पड़ जायगा।

इधर बहुत-से सार्वजनिक उद्योग-धंधे सरकार की देख-रेख और आधिपत्य में चल रहे हैं। ये भी एकाधिकारी उद्योग-धंधे हैं। कितने अर्द्ध-एकाधिकारी उद्योग-धंधे होते हैं। लेकिन व्यक्तिगत्त एकाधिकारों से वे इस बात में विभिन्न हैं कि वे भोक्ताओं की इच्छाओं और उनकी माँग को पूरा करने के लिए चलाए जाते और उनमें सेवा की भावना रहती है, वे मुनाफा की भावना द्वारा परिचालित नहीं होते। जो कुछ मुनाफा होता भी है वह सामाजिक लाभ है, न कि

व्यक्तिगत लाभ। सरकार इनके द्वारा और एकाधिकारों के द्वारा भी निम्नलिखित नियमों का पालन करना अनिवार्य बना सकती है—(१) दाम तभी बढ़ाया जा सकता है जब मुनाफा या डिविडेन्ड कम किया जाता है (२) यदि डिविडेन्ड बढ़ गये हैं तब दाम को कम करना होगा (३) उत्पादित वस्तु की जाँच की जायगी। डाल्टन का कहना है कि यदि सरकार किसी एकाधिकारी पर कर लगाना चाहती है तब एक अवधि के लिए निर्धारित आयात-लाइसेन्स लगाया जा सकता है जिसका इन्सिडेन्स एकाधिकारी पर पड़ेगा।

इस परिच्छेद को समाप्त करने के पूर्व प्रो० पीगू के कुछ विचारों का विवरण देना आवश्यक प्रतीत होता है। वे इस बात से सहमत नहीं होते कि एकाधिकारी के ऊपर कर लादने से उसकी शक्ति क्षुण्ण या दमित हो जा सकती है। एकाधिकारी उद्योग के शेयर-होल्डर या स्वामी बहुत धनाढ्य व्यक्ति होते हैं और उनके ऊपर कुछ विभिन्न ढंगों से कर लगाना होगा। सरकार को एकाधिकारों की उत्पत्ति को रोकने के लिए अधिक सशक्त साधनों को अपनाना पड़ेगा। तभी वह भोक्ताओं को उनके चंगुल से बचा सकती है जो उनकी बचत को ग्रसित करने के लिए राहु-केतु बने हैं। यदि सरकार केवल उनसे अधिकाधिक कर लेने के फिराक में रहे तो वे उत्पादन कम करके, दाम खूब बढ़ाकर सरकार को मनचाहा करने तो देंगे परन्तु इससे समाज का अपकार होगा। अतएव सरकार को कर लगाने के साथ उत्पादन, दाम और वस्तुओं के रूप-गुण के ऊपर अंकुश रखना होगा। इतना ही नहीं, उसे एकाधिकारों को मुआवजा देकर उनका राष्ट्रीयकरण भी कर लेना होगा। तभी वह समाज को उनके शोषण से बचा सकती है। इसके लिए काफी सतर्कता, प्रचार, प्रकाशन और लोकमत को जागरित करने की जरूरत है।

चतुर्दश अध्याय

कुछ विशिष्ट करों के भार का संवहन

(The Incidence of Some Special Taxes)

आय-कर का संवहन

(Incidence of an Income Tax)

प्रोफेसर फिन्डले शीराज ने आय-कर के संवहन के ऊपर अपने विचार देते लिखा है कि इसे लोग गलत समझ बैठते हैं। कुछ लोग आय-कर के प्रभाव को ही इसका संवहन समझ लेते हैं। बहुत अर्थशास्त्री इस विचार को मानते हैं कि आय-कर के बोझ को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता। यह एक तरह से ऊपरी खर्च (Over-head Cost) है जो सम्पूर्ण खर्च में सम्मिलित हो जाता है। जिन क्षेत्रों में यह कर लगाया गया है उन क्षेत्रों में लगे साधनों को हटाकर दूसरे क्षेत्रों में उन्हें नहीं लगाया जा सकता जिनमें यह कर नहीं लगाया है और न इस तरह आय-कर के बोझ को ही स्थानान्तरित किया जा सकता है। इसके फल स्वरूप आय-कर का भार उसी व्यक्ति पर पड़ता है जो आय-कर देता है। यह वहीं पड़ा रहता है जहाँ लगाया गया था। आय-कर सामान्य होता है। कोई भी क्षेत्र इससे खाली नहीं रहता। डाल्टन ने ठीक ही लिखा है कि सामान्य आमदनी पर लगा गया कर सभी वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्यों पर लगाये गए कर के तुल्य है। इसका क्या कारण है ?

दाम 'सीमा' द्वारा निर्धारित होता है। सीमा पर जो खर्च बैठता है उसके बराबर ही दाम होता है। दाम आय-कर देने या न देने की बात द्वारा प्रभावित नहीं होता। आय का अर्थ जब तक व्यवसाय से

उत्पन्न आय है तब तक उसे 'बचत' समझना चाहिये। आय-कर का बोझ आय-कर-दाता पर इस ढंग से पड़ता है कि इस सिद्धान्त को प्रत्येक क्षेत्र और सब समय के लिये सत्य माना जाता है और इसके संबंध में जो कुछ अपवाद है, वह अस्थायी और अत्यन्त गौण है।

व्यवसायिओं का तर्क है कि उनपर जो आय-कर लगाया जाता है उसे अधिक दाम लेकर दूसरों के मत्थे जड़ा जा सकता है। लेकिन क्रेताओं से कर लेना उतना आसान नहीं और कुछ अपवादों में ही ऐसा होता है। चाहे आय पानेवाला या कर देने वाला, आय-कर के बोझ को ढोता है। कुछ अर्थशास्त्री हैं जो व्यवसायिओं के तर्क द्वारा प्रभावित जान पड़ते हैं और मानते हैं कि भले ही अल्पावधि में कर के बोझ को हस्तान्तरित नहीं किया जा सके, लेकिन दीर्घावधि में वह अवश्यमेव हस्तान्तरित होगा। पेशावालों की आय पर लगाये गये कर का भार भी उन्हीं पर चिपका रहता है। यदि कुछ पेशाओं पर आय-कर लगाया जाय और कुछ पर नहीं तो उस दशा में कर लगे पेशाओं से कुछ आदमी हटकर उन पेशाओं में लगेंगे जिनपर कर नहीं लगाया गया है।

पूर्ण प्रतियोगिता के तत्वावधान में सीमान्त उत्पादक का प्रश्न आता है। चूँकि उसे कोई बचत नहीं होती, इसलिए उसपर आय-कर लगाने का सवाल ही नहीं उठता। संयुक्त-पूँजी की कम्पनियों में flat दर पर आय-कर लगाया जाता है और इससे कुछ शेयर-होल्डरों को अपने आय-कर का कुछ बोझ हस्तान्तरित करने का मौका मिलता है। बहुत ऐसे व्यक्तिगत फर्म हैं जिनके ऊपर सरकारी दृष्टि नहीं रहती और वे आय-कर देने से बचे रहते हैं। अपूर्ण प्रतियोगिता और विदेशी प्रतियोगिता की आशंका के कारण भी आय-कर का हस्तान्तर संभव हो जाता है। लेकिन कभी दाम इसलिए नहीं बढ़ने पाता और आय-कर इसलिये हस्तान्तरित नहीं हो पाता कि मुद्रा-स्फीति (Inflation) पैदा हो जाती है और इसके

फलस्वरुप (जैसा कि सेलींगमैन का कथन है) मुद्रा-स्फीति मूल्य-वृद्धि के लिए "बफ्फर" बन जाती है और वह मूल्य-वृद्धि के प्रभाव को खत्म कर डालती है। फिर भी भोक्ताओं की स्वभावपरता (Inertia) के कारण दाम कर की रकम के बराबर बढ़ता हुआ भी देखा जाता है। बहुत-से भोक्ता आलस्य के कारण अपने अड़ोस-पड़ोस में अधिक दाम पर चीज खरीदने से हिचकते नहीं।

जो अर्थशास्त्री व्यवसायियों के इस कथन का खंडन करते हैं कि आय-कर को दाम में समाविष्ट किया जा सकता है वे कुछ अग्रलिखित तर्क भी पेश करते हैं :—(१) आय-कर वास्तव में कोई ऊपरी खर्च नहीं जो उत्पादन-व्यय में शामिल होता है। यह कच्चे माल या तैयार माल पर लगाए कर की तरह भी नहीं। यह खालिस मुनाफे पर लगाया कर है। यदि किसी को बचत नहीं होती तो उसे कोई आय-कर नहीं देना पड़ता। वह और दूसरे प्रकार का कर भले ही दे सकता है। "Income-tax is not a cost of production, but a cost of success in business!" (२) भले ही व्यवसायीगण सोचें कि वे बेची जानेवाली वस्तुओं के दाम में आय-कर को शामिल कर देंगे लेकिन यह उनका भ्रममात्र है। वे अपने मनोनुकूल दाम माँगेंगे, लेकिन उन्हें उतना ही दाम लेना पड़ेगा जितना भोक्तागण दे सकते हैं। विक्रय-दाम आय-कर द्वारा प्रभावित नहीं होता, इसका एक कारण है। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में विक्रय-दाम कई विक्रेताओं के निर्णय का फल होता है और सर्वाधिक मुनाफा अर्जन करने के लिए जो दाम बैठाया जाता है उसे बिना इस बात के सोचे-विचारे निर्धारित किया जाता है कि कितना आय-कर देना पड़ता है। (३) उत्पादन के साधनों की पूर्तिगत लोच एक सामान्य कर लगाने की अवस्था में कम से कम अल्पावधि में इतनी थोड़ी रहती है कि उनका स्थानान्तर हो ही नहीं सकता। दीर्घावधि में भी आय-कर के बोझ का स्थानान्तर उसी शर्त पर संभव हो सकता है जब कि उत्पादन के साधनों की

पूर्ति लोचपूर्ण हो। (४) उत्पादन के साधनों की लोच उस हालत में नहीं के बराबर होगी जब इन साधनों के पूर्तिदाताओं की माँग को आमदनी के लिए होती है मिहनत और त्याग की दृष्टि से लोच-हीन हो। (५) आय-कर चाहे किसी भी पद्धति पर आधारित हो— Graduationor differntiation—उसे हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता है (६) जो व्यवसायी कहते हैं कि आय-कर के बोझ को हस्तान्तरित किया जा सकता है वे इस बात को भूल जाते हैं कि प्रतियोगिताविहीन दलों (Non-competiting groups) पर लगाए गए आय-कर को किसी हालत में स्थानान्तरित या हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता।

"जब कोई व्यवसायी कीमतें तय करने के लिये अपने लागत खर्चों का अनुमान लगाता है तब वह बहुधा कम से कम अप्रत्यक्ष रूप में, उस कर को भी जोड़ लेता है, जो उसे देना पड़ेगा और यदि बाजार की परिस्थितियाँ अनुकूल हुई तो वह कीमतें ऐसी सतह पर बाँधेगा जिससे उसे मनोवांछित अथवा वास्तव में आवश्यक न्यूनतम आय प्राप्त हो सके"। (Evidence of the Association of British Chambers of Commerce before colwyn Committee.)

संयुक्त पूँजी के रोजगारों में किसी कम्पनी के मुनाफे पर एक निश्चित दर से (flat rate) से कर लगाया जाता है। मुनाफे पर उसके उद्गम स्थान पर ही एक निश्चित दर से कर लगाया जाता है। जिन सदस्यों (शेयर होल्डरों की, जैसे बड़े-बड़े संचालक-डाइरेक्टरस) को अधिक मुनाफा मिलता है उन्हें अतिरिक्त कर (Sur Tax) देना पड़ता है और जिन सदस्यों को मामूली मुनाफा मिलता है उन्हें छुटकारा या बट्टा (Rebate) मिलता है। इसका फल यह होता है कि कम्पनी के सदस्यों को दाम बढ़ाने का कोई आकर्षण नहीं रहता। इस तरह दाम में कर शामिल नहीं होता और उसका भार क्रेताओं पर डाला नहीं जाता।

हम जानते हैं कि आय-कर विशिष्ट कर होने की जगह सामान्य कर होता है। यदि वह कीमतों में सम्मिलित होता है तो दाम-तल (Price-level) बढ़ेगा। लेकिन जब तक साख (Credit) और मुद्रा (Cash) में प्रसारण या स्फीति (Inflation) नहीं होगी तब तक दाम-तल में हुई व्यापक वृद्धि अधिक समय तक टिक नहीं सकती। लेकिन हमारे पास विश्वास करने का कोई प्रमाण नहीं कि आय-कर में वृद्धि होने से कोश-प्रवेश्य मुद्रा अथवा बैंक-जमा (Bank Deposits) की राशि (volume) में भी वृद्धि हो जायगी।

लेकिन कुछ ऐसी अवस्थाएँ हैं जिनके तत्त्वावधान में आय-कर कुछ अंश में दाम में सम्मिलित हो सकता है। वे यों हैं:—(१) Hyper या Golloping Inflation—काफी गति से बढ़ने वाली मुद्रा-स्फीति के तत्त्वाधान में उत्पादकों को दाम बढ़ाने का एक बहाना मिल जा सकता है। लेकिन दीर्घकाल में दाम अपने स्वाभाविक (Normal) सतह पर पहुँच जायगा। (२) खुदरा व्यापार (Retail Trade) के चलते भी लोग जब किसी खास विक्रेता (या उत्पादक) से वस्तु-क्रय करने के आदी या अभ्यस्त हो जाते हैं और कहीं अन्य जगह से खरीदना नहीं चाहते तब भी आय-कर का कुछ भाग दाम में शरीक हो जा सकता है। (३) जैसा कि प्रो० हैरीस ने बतलाया है—आय-कर का प्रभाव सीमान्त व्यय तथा सीमान्त लाभ के वक्रों (Curves) पर पड़ता है। यदि आय-कर की ऊँची दर के कारण कुल लाभ की एक निश्चित रकम में से वास्तविक लाभ कम होता है तो साहसी उत्पादक लाभ प्राप्त करने में कम समय एवं शक्ति लगायेंगे। उनका उत्साह घट जायगा। इसका प्रभाव दाम पर पड़ेगा और दाम लघुकाल में बढ़ चलेगा। †

---

† "By graduation and granting allowances in the income-tax for dependents, the income-tax can be made a most flexible instrument for aiding any desirable principle of distribution of income. As there is no differentiation between different sources of income, each factor

आयात और निर्यात पर लगी चुंगी का संवहन
(Incidence of Customs on Imports and Exports)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में चीजों के बदले चीजें ही दी-ली जाती हैं। एक देश अपनी कोई चीज देकर दूसरे देश की कोई चीज लेना चाहता है। यहाँ विनिमय की दर किस तरह निर्धारित होती है? इन दोनों देशों की आपसी माँग की तीव्रता पर ही वह दर निर्भर करती है। यदि किसी देश की माँग दूसरे देश की चीज के लिये तीव्रतर है और उस पहले देश की चीज के लिए दूसरे देश की माँग कम तीव्र है तो विनिमय की दर पहले देश के प्रतिकूल और दूसरे देश के अनुकूल होगी। विनिमय दर की अनुकूलता या प्रतिकूलता तुलनात्मक व्ययों की सीमाओं के बीच ही रहेगी। चीजों के आयात और निर्यात पर देश-देश की सरकार चुंगी लगा देती है जिससे व्यापार की अबाध स्वतंत्रता में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है। चुंगी का बोझ चीज भेजने और चीज माँगने वाले देशों के ऊपर माँग की तीव्रता के अनुसार बँटकर पड़ेगा। उदाहरण लीजिए। इंगलैंड भारत से रुई माँगता है और भारत इंगलैंड से सूती कपड़े। यदि इंगलैंड की माँग भारतीय रुई के लिए, भारत की माँग इङ्गलैंड के सूती वस्त्रों के लिए तीव्रतर हो तो चुंगी का भार अधिक इङ्गलैंड पर ही पड़ेगा, भारत पर कम। यदि माल माँगने वाले देश की माँगवाली तीव्रता माल भेजनेवाले देश की पूर्तिवाली तीव्रता से कम है तब मँगाने वाला जो कर लगायगा उसका अधिक बोझ भेजने वाले पर ही पड़ेगा और उसी तरह भेजनेवाला जो कर लगायगा उसका अधिक

---

of production will move in those occupations in which the value of its marginal product is greatest."

"The greatest disadvantage of a general income-tax is that it will necessarily upset the proper balance between work and leisure. If the income-tax reduces the proportion of income saved to an undesirably low level in the conditions of full employment, this may be remedied if the state itself saves part of the tax-revenue."

(J. E. Meade)

बोझ केवल उसी पर पड़ेगा। यदि बाहर से आनेवाली चीज के लिए भोक्ताओं की माँग लोचहीन है तो उसपर चुंगी लगने के कारण यदि उसकी कीमत बढ़ जाय तो भी माँग घटेगी ही नहीं। इसलिये चुंगी का भार माल मँगानेवालों पर पड़ेगा। यदि माँग लोचपूर्ण है तब चुंगी का भार भेजनेवालों पर पड़ेगा। यदि माल भेजने वाले देश के उद्योग-धंधों में इतनी विशिष्टता—Specialisation—आ गई है कि वह कर स्वयं सहकर चीजों को भेजना चाहता है तब आयात-निर्यात पर की चुंगी का वहन उसे आप करना पड़ेगा। यदि वह देखता है कि उसके लिए विस्तृत बाजार है तो वह कर स्वयं न सहेगा, बल्कि माल मँगानेवालों पर डाल देगा। यदि कच्चे मालों पर चुंगी लगे और उनके लिए माँग लोचहीन हो तो उनके खरीदने वालों को चुंगी भी देनी पड़ेगी क्योंकि, मान लिया जाय, उनके तैयार मालों के लिए माँग लोचहीन है। विदेशों को भी आयात-चुंगी के प्रभाव को सहने के लिए बाध्य किया जा सकता है जब उनकी चीजों के लिए माँग बहुत ही लोचपूर्ण हो और चीजों को अन्यत्र से भी प्राप्त करने की जगह हो। मान लीजिए, भारतवर्ष विदेशी मोटरों पर आयात चुंगी लगा देता है। मोटरों की माँग धनी और पेशावाले लोग ही करते हैं। ये लोग चुंगी के कारण दाम बढ़ने पर भी अपनी माँग शायद ही कम करेंगे। ऐसी हालत में विदेशवाले कर का बोझ भारतीय भोक्ताओं पर डाल सकेंगे। यह भी संभव है कि विदेशी कम्पनी प्रतिस्पर्द्धा के भय से आयात-चुंगी के बोझ का कुछ अंश आप सह लेगी। आयात-चुंगी का मोटर पर लगाना इसलिए समर्थनीय है कि इसका भार उन्हीं लोगों पर पड़ता है जो उसको सहन करने के योग्य होते हैं। इससे यह भी लाभ होता है कि मोटर मँगानेवाला देश स्वयं मोटर बनाने की चेष्टा करेगा।

आयात-चुंगी का बोझ अधिकतर गृह भोक्ताओं को ही वहन करना पड़ता है, क्योंकि आयात वाले तो स्वाभाविक मुनाफा ही

उठाते होते हैं और चुंगी लगाने से उनका यह मुनाफा भी घटने लगता है। वे लोग उन उन धंधों को शुरू कर देंगे जिनमें स्वाभाविक मुनाफा उठाने का अवसर है। फलतः चुंगी लगी चीजों की पूर्ति कम हो जायगी। इसलिये दाम बढ़ने लगेगा जबतक स्वाभाविक मुनाफा नहीं होने लगे।

इसलिए आयात-चुंगी को गृह भोक्ताओं को ही वहन करना पड़ता है। फिर भी कुछ अवसरों पर विदेशी लोगों को भी कर देने के लिये प्रेरित किया जा सकता है। यह उस समय होगा जब उनकी चीजों के लिए अपनी माँग लोचपूर्ण हो और उनकी पूर्ति लोचहीन हो या उनकी माँग भी लोचहीन ही हो।

ऊपर जो लिखा गया है उससे साफ-साफ जान पड़ता है कि इम्पोर्ट चुंगी—आयात पर की चुंगी—बहुधा गृह भोक्ताओं द्वारा सही जाती हैं और एक्सपोर्ट डियूटी—निर्यात पर की चुंगी—चीज भेजने वालों द्वारा सही जाती है।

भूमि पर के कर-भार का संवहन
(Incidence of a tax on Land)

लगान के दो भेदों से पाठक अवगत होंगे। वे ये हैं—खालिस लगान और बेखालिस लगान। खालिस लगान में आर्थिक लगान आता है। आर्थिक लगान पर जो कर लगाया जायगा उसका भार भूपति पर पड़ेगा क्योंकि खेतिहर या कृषक के पास कोई अतिरिक्त बचत होती नहीं कि वह उस कर के भार को सहन करे। अगर बेखालिस लगान पर कर लगाया जाय तो संभव है कि कृषक भी उसका भार सहे। दूसरे शब्दों में, जब कर पूरे लगान पर लगाया जाता है तब उसका भार भूपति अपने असामी (tenant) के कंधों पर डाल सकता है।

दूसरी बात, अगर किसी खास (Particular) जमीन (जो खास अनाज पैदा करती है) पर कोई कर लगाया जाय और कर-योजना सामान्य (Common or General) न होकर इस तरह विशिष्ट (Particular) हो तो उसका प्रभाव कुछ दूसरा होगा। अगर कपास उपजानेवाली जमीन पर कर लगाया गया है तो लोग कर से बचने के लिए कपास के बदले उस जमीन से दूसरी फसल उपजा लेंगे। कपास की पूर्ति उसकी माँग से कम हो जायगी। सभी लोगों की माँग पूरी नहीं हो सकेगी। नतीजा यह होगा कि कपास का दाम बढ़ जायगा। कर का बोझ (दबाव-Impact) जो पहले भूपति या खेतिहर पर पड़ा है वह कपास के क्रेताओं पर पड़ेगा और कर दाम में सम्मिलित हो जायगा।

लेकिन यहाँ दो बातें विचारणीय हैं। पहली बात माँग की लोच है। अगर कपास की माँग लोचदार है तो उसके दाम में बढ़ने के कारण उसकी माँग कुछ कम हो जायगी और खेतिहर कर की समूची रकम दाम में शामिल नहीं कर सकेंगे। कर का कुछ भार भूपति को सहना पड़ेगा, क्योंकि उसके कुछ आसामी कपास उपजाने वाली जमीनों को उसे लौटा देंगे। अगर कपास की माँग लोचहीन है तो उसके दाम बढ़ने पर भी उसकी माँग घट नहीं सकेगी और कपास के क्रेताओं को कर का भार सहना पड़ेगा। इस तरह दाम में कर की समूची रकम सम्मिलित हो जा सकती है। कर का कोई भी भार भूपति पर नहीं पड़ेगा।

दूसरी बात भूमि की प्रकृति है। अगर कपास उपजानेवाली जमीन से केवल कपास ही उपजाई जा सकती है और कोई फसल नहीं तब तो लाचारी है और भूपति को कर का समूचा भार सहना पड़ेगा। लेकिन ऐसा व्यवहार में नहीं देखा जाता।

जब हम यह निष्कर्ष देते हैं कि कर का समस्त भार भूपति को

सहन करना पड़ता है तब हम मान लेते हैं कि वह अपने आसामी से जितना लगान वह ले सकता है, ले रहा है। जब वह उतना लगान नहीं ले रहा है तब नए कर के लगाने पर या किसी पुराने कर की दर बढ़ाने पर वह लगान की रकम बढ़ाकर उसे कुछ हद तक अपने आसामी से वसूल करेगा—"look sharply to his rents and take in the slack"। डाल्टन चाहते हैं कि भूमि पर हल्के कर के बदले भारी, बोझिला कर लगाना चाहिये, क्योंकि "A light tax may be less than the amount of "Slack" in existing rents, whereas a sufficiently heavy tax will be greater"।

मकानों पर के कर-भार का संवहन

(Incidence of a tax on Buildinge)

किसी मकान पर लगाये कर का भार निर्धारित करना और भी जटिल है। कर का कुछ-कुछ भार न केवल मकान-मालिक, किराये-दार वहन कर सकते हैं, बल्कि उसका कुछ-कुछ भार मकान बनाने वाले श्रमिक और उस मकान में बिकनेवाली चीज के उपभोक्ता भी वहन कर सकते हैं। अगर बिकनेवाली चीज प्रस्तुत-उपभोग्य नहीं बल्कि मशीन ठहरी तो उस हालत में कर का कुछ भार मशीन के क्रेता, मशीन से जो चीज तैयार होगी उसके उपभोक्ताओं के ऊपर, डाल सकेंगे।

दुकानदार अपने मकान (दूकान) पर लगाये कर (local rate) के भार अपने खरीददारों को हस्तान्तरित कर सकता है बशर्ते वे उसके अड़ोस-पड़ोस में रहने वाले लोग हैं और वे उस दूकान से छोड़ कर कहीं दूर पर स्थित किसी और दूकान से कोई चीज मोल नहीं लेते या मोल नहीं लेंगे। लेकिन अब यातायात एवं आवागमन

के साधनों का इतना सुन्दर विकास हुआ है और होता जा रहा है कि लोग घर पर बैठे सुन्दर दूकानों से अपनी मनोवांछित वस्तुएँ मँगा सकते हैं। इस विकास के फलस्वरूप दुकानदारों को अब कर के भार को अपने सौदागरों—क्रेताओं के ऊपर डालने में कम आसानी हो रही है। लेकिन बेचारे गरीब क्रेताओं के लिये तो अपने निकटस्थ दुकानदारों से खरीदने के अलावे कोई दूसरा चारा ही नहीं।

जहाँ तक किरायेदार और मकान मालिक के बीच कर के बँटवारे का सवाल है यही कहा जाता है कि उसका भार मकान-मालिक पर पड़ता है। अगर किरायेदार को कर सहने को कहा जाय तो वह कम किराया देने के लिए तैयार होगा। फिर हमें यह ध्यान में रखना होगा कि मकानों की माँग की लोच कितनी और कैसी है। प्रायः मकानों की माँग लोचहीन होती है। यही कारण है कि मकान-मालिक कर के भार को किरायेदार पर रख देता है और वह किराये की रकम में ही कर की रकम को भी शामिल कर देता है। अगर किसी स्थान में मकानों की माँग बहुत अधिक नहीं है और उसकी पूर्ति किसी खास समय सीमित या लोचहीन है तब कर का भार अधिकतर मकान-मालिक पर पड़ेगा। परन्तु ऐसी परिस्थिति में मकान-मालिक नए मकान नहीं बनायेंगे और बाद में जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ जब मकानों की माँग बढ़ेगी, नए पैदा हुए लोग रहने वाले होंगे, विवाह करनेवालों की संख्या अधिक होगी जिनका गुजारा बिना अलग मकान में रहे चल ही नहीं सकता तब मकान-मालिक कर का भार किरायेदारों पर लादने में सफल हो सकेंगे! अतएव यह स्पष्ट है कि लघु काल में कर का भार भरसक मकान-मालिक पर होगा, परन्तु दीर्घकाल में वह किरायेदार पर जा बैठेगा।

मकानों की स्थिति के अनुसार भी कर का भार मकान-मालिक पर पड़ सकता है या किरायेदार पर। अगर किसी ऐसे मुहल्ले में मकान हैं जहाँ शृंगारिक प्रसाधनों (मुख्यतः मैं तो नुपूरों और कल कंठों की मधुर झंकार मिलती हो!) की भरमार हो तो किरायेदार खुशी मन से कर का भार देना चाहेगा।

पंचदश अध्याय

मृत्यु-कर का विश्लेषण

(Analysis of Death Duties)

वर्तमान और भविष्य के बीच करों के बोझ को संतुलित रूप से विभाजित करने का एक प्रमुख साधन मृत्यु-कर है। प्रत्येक प्रजातंत्रात्मक देश में यह एक कर का शस्त्र (Fiscal Instrument) बन चुका है। मिश्र देश में ईसा मसीह के जन्म के ७०० वर्ष पूर्व ही मृत्यु-कर लगाया जा चुका था। यूनाइटेड किंगडम में केन्द्रीय सरकार रियासत तथा उत्तराधिकार कर लगाती है। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में मृत्यु-कर संघीय और राजकीय अधिकारियों द्वारा लगाया जाता है। आस्ट्रेलिया में संघीय और राजकीय सरकारें—दोनों—ऐसे कर लगाती हैं। भारत के नये गणतांत्रिक विधान के अनुसार रियासत कर लगाने का विचार संघीय सरकार कर चुकी है और इस क्षेत्र में वह उत्साहपूर्वक काम भी कर रही है।

अदम स्मीथ ने अपने ग्रन्थ "Wealth of Nations" में रियासत-कर की चर्चा करते हुए बतलाया है कि इसका भार उत्तराधिकारी पर पड़ता है। उन्होंने इसे जायदाद पर लगाया हुआ एक काला कर समझा है। उसके अनुसार यह कर समतापूर्ण (Equitable) नहीं होता, क्योंकि जब-जब रियासत के किसी मालिक का देहान्त होता है तब-तब यह कर लगाया जाता है और अगर किसी रियासत के स्वामी दूसरे रियासत के मालिकों की तुलना में कम वर्षों तक जीवित रहें तब तो पहली रियासत से अधिक बार और अधिक कर वसूला जायगा। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में व्यक्तिवाद

का नारा बुलन्द हुआ था और उस युग में रियासत-कर की आलोचना इस आधार पर हुई कि यह व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार के प्रति हस्तक्षेप करना चाहता है। निजी सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिकार होता है। वह जिसको चाहे अपनी सम्पत्ति-जायदाद दे सकता है। डेविड रिकार्डो ने इस कर की आलोचना इस आधार पर की कि इसके लगाने से पूँजी के संचय में बाधा होती है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में लोगों का दृष्टिकोण बदला और रियासत-करों का समर्थन किया गया। बेनथम ने उसका समर्थन नैतिक आधार पर किया। मील, एजवर्थ और मार्शल ने भी उसका समर्थन किया। २० वीं शताब्दी के आरंभ से उसकी प्रधानता बढ़ गई। उसमें क्रमिकता (Graduation) और विभिन्नता (Differentiation) के तत्त्वों का समावेश किया गया।

यहाँ रियासत-कर, उत्तराधिकार-कर (Succession Duty), मृत्यु-कर (Death Duty), उत्तरादान-कर (Legacy Duty) के बीच का विभेद समझ लेना चाहिये। रियासत-कर सम्पूर्ण रियासत पर लगाया जाता है। इसमें इस बात पर विचार नहीं किया जाता कि प्रत्येक उत्तराधिकारी को रियासत का कितना हिस्सा मिला है। उत्तराधिकार-कर समूची रियासत पर नहीं लगाया जाता। वह प्रत्येक उत्तराधिकारी के हिस्से पर लगाया जाता है। उसकी दर क्रमिकतापूर्ण (Graduated) होती है। इसका दूसरा अँगरेजी नाम Inheritance tax है।

मृत्यु-कर बहुत ही उत्पादक (Productive) होते हैं। यह मत कई विद्वानों और कमिटियों ने प्रगट किया है। उत्तराधिकार-कर की अपेक्षा रियासत-कर अधिक राजस्व देनेवाला है। प्रगतिशीलता की अधिक संभावना रियासत-कर में है, क्योंकि वह समस्त सम्पत्ति पर लगाया जाता है। यह अधिक सरल कर भी है। इसमें प्रत्येक उत्तराधिकारी के हिस्से को निर्धारित करने की आवश्यकता नहीं। मृत्यु-कर "सामर्थ्य के सिद्धान्त" (Ability Principle)

पर आधारित होता है। कहना नहीं होगा कि यह सिद्धान्त कर के बोझ को विभाजित करने का व्यापक रूप से स्वीकृत सिद्धान्त है। उत्तराधिकार-कर भी इस सिद्धान्त का पालन करता है। जहाँ तक कर के बोझ में समत्व (Equity) का प्रश्न है मृत्यु-कर में इसका पूरा समावेश होता है। आमदनी का जरिया जितना ही बड़ा होता है मृत्यु-कर की दर उतनी ही बड़ी होती है। निकट के नातेवाले उत्तराधिकारियों से दूर के नाते वाले उत्तराधिकारियों की तुलना में कम मृत्यु-कर लिया जाता है। वही कर बढ़िया होता है जो सरल, निश्चित, और मितव्ययितापूर्ण हो। मृत्यु-कर सरल होता है। रियासत-कर उत्तराधिकार-कर की अपेक्षा सरल होता है। सरलता और निश्चितता दोनों अन्तर्सम्बन्धित हैं। मृत्यु-कर उत्तराधिकारी के ऊपर लगाया जाता है। उत्तराधिकारी पहले से जानता रहता है कि उसे कर देना पड़ेगा। मृत्यु-कर की रकम को वसूलने में कम खर्च पड़ता है। उत्तराधिकार-कर की अपेक्षा रियासत-कर के वसूलने में कम खर्च पड़ता है। आर्थिक ठोसता की दृष्टि से भी मृत्यु-कर उत्तम प्रतीत होता है। इसके लगाने से आर्थिक प्रगति में कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं होता। उल्टे यह आर्थिक स्थिरता को बढ़ाता है।

मृत्यु-कर रियासत के स्वामी के मरने के बाद वसूल किया जाता है। उत्तरदान की हालत में ही रियासत के वर्तमान मालिक को ऐसा कर देना पड़ता है। यहीं कर देने की सामर्थ्य के बारे में प्रश्न उठता है। फिर भी यह कर बहुत ही उचित समय में लिया जाता है। मृत्यु-कर के भार को कोई हस्तान्तरित नहीं कर सकता। अपनी सम्पत्ति-जायदाद को किसी के लिये छोड़ जाने का अधिकार किसी व्यक्ति को इसलिये है कि सरकार ऐसा चाहती है (Bequest is a creation of the law modifiable by the state at will)। यदि सरकार का शासन और देख-रेख नहीं रहे तो धन-माल जमा करना असंभव हो जाय। जब ऐसी बात है तब सरकार का उस संग्रहीत धन-कोष में से कुछ भाग लेना बुरा नहीं कहा जा

सकता। और इतना ही नहीं, जितना बड़ा कोई कोष या रियासत हो उतना ही बड़ा सरकार का हिस्सा भी होना चाहिये। जो आदमी अपने किसी की मृत्यु के बाद रियासत पाता है उसे तो यह अकस्मात् मिल जाता है और आकस्मिक आमदनी पर लगे मृत्यु-कर को देने में विशेष हिचक नहीं होती। सरकार का काम लोगों को धन-माल जमा करने में मदद पहुँचाकर उनमें से कुछ से कुछ हिस्सा लेना है। उसे मृत्यु-कर लगाकर धन के वितरण की विषमता को कम करना है।

यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या मृत्यु-कर संग्रहीत पूँजी को बर्बाद करना है या पूँजी का संग्रह ही रोकना है? जहाँ तक पूँजी की बर्बादी का सवाल है उसका भाव यह है कि जब किसी रियासत से मृत्यु-कर की रकम दी जाती है तब उस रियासत का पूँजीगत मूल्य उस रकम के बराबर कम हो जाता है। इसका उत्तर यह है कि पूँजी केवल भौतिक वस्तुओं में सन्निहित रहती है और जब मृत्यु-कर की रकम चुकती कर दी जाती है तब कुछ नहीं विनष्ट होने पाता है और न जलने पाता है, केवल जो रकम पहले किसी व्यक्ति के हाथ में थी वह सरकार के हाथ में चली जाती है और इस तरह राष्ट्रीय आय में कोई हेर-फेर नहीं होने पाता है। फिर, यह कहा जा सकता है कि जो रकम सरकार मृत्यु-कर में ले लेती है वह यदि उस व्यक्ति के हाथ में रहती तो वह उसे किसी काम या व्यवसाय में लगाता। लेकिन इसका जवाब यह है कि सरकार भी उस रकम को किसी काम में लगा सकती है। इस तरह राष्ट्रीय आय पर उसका कोई अहितकर प्रभाव नहीं पड़ सकता। यह केवल स्वामित्व के हस्तान्तर का हल्का प्रश्न है। हाँ, अगर सरकार मृत्यु-कर में मिली रकम को समुद्र में डुबो दे तब ही हम कह सकते हैं कि मृत्यु-कर से पूँजी की बर्बादी होती है और पूँजी-संग्रह रुक जाता है।

सरकार मृत्यु-कर से मिले राजस्व को सर्वसाधारण के कुल

उपभोग को बढ़ाने में खर्च कर सकती है। हम जानते हैं कि किस तरह समाज में पूँजी-संग्रह और पूँजी-योग में अन्तर या विरोध पैदा हो जाता है जिससे बेकारी पैदा होती है। सरकार उस राजस्व द्वारा इस अन्तर या विरोध को मिटाकर बेकारी पैदा होने से रोक सकती है।

सरकार को पर्याप्त राजस्व चाहिए। बिना मृत्यु-कर लगाए इतना राजस्व मिल नहीं सकता। अगर सरकार मृत्यु-कर नहीं लगावे तो किस उपाय से उसे अपेक्षित राजस्व मिलेगा ? मान लीजिए, मध्यम वर्ग पर आय-कर लगाकर सरकार राजस्व की कमी को पूरा करने का प्रयास करती है। इसका क्या असर होगा ? मध्यम वर्गवालों को पूँजी का संग्रह रोकना पड़ेगा। वे कोई नया पूँजी-योग नहीं कर सकेंगे। इस तरह समर्थ या संभावित पूँजी (Potential Capital) की प्रगति रुक जायेगी। या दूसरा उपाय यह हो सकता है कि गरीब लोगों पर कर लगाकर राजस्व की कमी को दूर करने की कोशिश सरकार करे। अगर वे लोग अपने समर्थ संग्रह से कर नहीं देते हैं तो वे अपने उपभोग पर वर्तमान जो खर्च होता है उसे ही कम कर सरकार को कर चुकावेंगे। इससे उत्पादन-शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। मजदूरों की आय तो घट ही जायेगी, उद्योगों की आय भी कम हो जायेगी। उद्योग के मालिक को कम मुनाफा होगा। इस तरह गरीब लोगों पर कर लगाने का अन्तिम परिणाम धनिकों को भी भुगतना पड़ेगा।

मृत्यु-करों के मनोवैज्ञानिक प्रभावों के ऊपर भी विचार किया जा सकता है। एक प्रश्न पूछा जा सकता है—क्या यह पूर्व-ज्ञान कि किसी दिन संग्रहीत धन पर कर लगाया जायगा धन के संग्रह की इच्छा को कम कर देगा। इसका उत्तर प्रो० कैनन ने इन शब्दों में दिया है—"मृत्यु-कर ऐसे समय पर लगाए जाते हैं और उनमें प्रगतिशीलता का नियम इस तरह लगाया जाता है कि वे धन

की समता को बढ़ाने में सहयोग देते हैं।" प्रो० पीगू ने मृत्यु कर की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि जिन्हें मृत्यु-कर देना रहता है वे इसको पहले से जानते होते हैं और चूँकि वे यह भी जानते रहते हैं कि उन्हें अपने जीवन-काल में उसे नहीं देना है, मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी देंगे, इसलिए वे उत्साहपूर्वक धन जमा करते हैं। वे अधिकाधिक धन छोड़जाने में ही अपना गर्व मानते हैं।" लार्ड केन्स ने बतलाया है कि वर्तमान युग में केवल व्यक्ति ही काफी धन नहीं जमा करते, बहुत-सी औद्योगिक संस्थाएँ और कम्पनियाँ आवश्यकता से अधिक धन जमाकर लेती हैं। सरकार इतने धन को केवल उन्हीं के हाथ में नहीं छोड़ सकती। उसपर समाज का अधिकार है।

लार्ड स्टाम्प ने मृत्यु-कर के आर्थिक प्रभावों को दो खंडों में बाँटा है—निकट प्रभाव और अन्तिकत्त प्रभाव। निकट (Immediate) प्रभाव संग्रहीत बचतों पर अच्छा पड़ता है। सरकार मृत्यु-कर से उपलब्ध राजस्व को स्थायी कार्यों के निर्माण में या सार्वजनिक ऋण को कम करने में खर्च करती है। यह पूँजी का हस्तान्तर मात्र है। हम ऊपर देख चुके हैं कि मृत्यु-कर के बदले दूसरे उपाय कार्यान्वित करने का कितना भयंकर प्रभाव पड़ता है। मृत्यु-कर का विलम्बित (Ultimate) प्रभाव संग्रह को प्रोत्साहित करता है। अतीत के अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मृत्यु-कर व्यावसायिक प्रेरणा को कोई आघात नहीं पहुँचाते और वे पूँजी की कोई बर्बादी नहीं करते।

प्रो० शीराज का मत है कि मृत्यु-कर स्थगित कर होने के कारण आय-कर से अच्छा है। आय-कर प्रतिवर्ष देना पड़ता है। यह ठीक नहीं। आय-कर में झंझट बहुत है। उसकी पूरी रकम भी लोग नहीं देते। अपनी आमदनी को कम दिखलाकर वे ऐसा कर पाते हैं।

डा० डाल्टन ने मृत्यु-कर का एक अतीव सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने बतलाया है कि मृत्यु-कर आय-कर से अच्छा कर

है'। अगर मृत्यु-कर देने के लिये पहले से बीमा नहीं भी किया रहे तो भी आय-कर की तुलना में वह पूँजी के संग्रह को कम रोकता है। † मृत्यु-कर प्रतिभूतियों (सेक्यूरीटिज) से प्राप्त आय से चुकता किया जाता है, आय-कर उस रकम से, जिसे बचाया जा सकता है। हर साल आय-देने की अपेक्षा भविष्य में मृत्यु के बाद, जीवन-भर ऐश-आराम करने के अनन्तर, मृत्यु-कर देना अधिक सुविधाजनक है। यदि मृत्यु-कर के देने का बन्दोबस्त बीमा के द्वारा पहले से ही कर लिया गया हो (और ऐसा ही अधिकतर हो रहा है) कि बीमा-कम्पनी द्वारा दिए कोष में से उसे दिया जाय तब आय-कर का पूँजी-संग्रह पर जैसा प्रभाव पड़ता है वैसा ही प्रभाव मृत्यु-कर का भी पड़ेगा। दोनों ही दशाओं में पूँजी के संग्रह को धक्का पहुँचता है, लेकिन मृत्यु-कर से कम धक्का पहुँचता है, यह निर्विवाद सत्य है। यह तर्क हम उस मृत्यु-कर के पक्ष में भी दे सकते हैं जिसमें क्रमिकता या प्रगतिशीलता नहीं अपनाई जाती। लेकिन यदि इटालियन अर्थशास्त्रज्ञ रिगनैनो के अनुसार मृत्यु-कर लगाया जाय तो काम और संग्रह करने की इच्छा को न्यूनतम आघात पहुँचे। रिगनैनो स्कीम में रियासत की उम्र के अनुसार अधिक या कम मृत्यु-कर लगने का विधान है। तीन बार मृत्यु-कर लगाकर सरकार समूची रियासत को आत्मसात कर सकती है। पहली बार मृत्यु-कर लगने पर रियासत का एक-तिहाई हिस्सा लिया जायगा, दूसरी बार जब नया अधिकारी आयगा तब रियासत की कमाई का एक-तिहाई भाग लिया जायगा और तीसरी बार पुरानी रियासत का बचा हुआ भाग और पुराने अधिकारी की कमाई का दो-तिहाई भाग सरकार मृत्यु-कर में ले लेगी। लेकिन डाल्टन का विचार है कि यह जरा क्रूर ढंग है। सरकार नए अधिकारियों को अधिकाधिक धन संग्रह करने के लिये Annuity—

---

† "Death duties are superior to an income-tax in the sense that the government can raise a given revenue by means of them with a smaller loss of satisfaction to the tax-payer than by an income-tax."
(Mrs. Hicks)

वार्षिक छूट-देकर प्रोत्साहित कर सकती है। इस तरह वह उन्हें अपने भावी उत्तराधिकारियों के लिए अधिक धन छोड़ जाने के लिए उत्तेजित करेगी और उन्हें अपनी ही पतवारों (Oars) पर निर्भर रहने के लिये आश्वस्त करेगी और मृत-पुरुषों के हाथों को अपनी नौकाओंको खेने के लिये बाधित करने से उनको रोकेगी (Inducement to work and save in order to provide for his heirs, and making it less easy for him to rest on his oars and allow the dead hand to propel his boat)। इस तरह धनाढ्य लोगों के बेटा-बेटीअपने गाढ़े पसीने की कमाई खाने के लिये दीक्षित किये जा सकते हैं और समाज में दिनानुदिन बढ़ने वाली आय और वित्त की दारुण विषमता शनैः शनैः कम की जा सकती है। †

बचत करने की मनोदशा पर प्रतिकूल प्रवृत्ति से पड़ने वाले प्रभाव का निराकरण करने के लिए प्रोफेसर रिगनानो नामक एक इटालियन लेखक ने मृत्यु-कर संबंधी एक योजना का सुझाव रखा है। वह संक्षेप में इस प्रकार है—एक जायदाद उत्तराधिकार के रूप में जितनी बार जा चुकी है, उसके ऊपर मृत्यु-कर उसी हिसाब से क्रमशः लगना चाहिए। यदि A अपनी उपार्जित जायदाद B के लिए छोड़ता है तो जायदाद का अधिकार मिलने पर B को उसका $\frac{2}{3}$ भाग मिलेगा और $\frac{1}{3}$ भाग राज्य कर के रूप में ले लेगा। अब B वह जायदाद और अपनी उपार्जित की हुई जायदाद C के लिए छोड़ जाता है। तब C को A की जायदाद का $\frac{1}{3}$ भाग मिलेगा और

† "Death duties, if they are levied impartially on all forms of property at death, will equally with an income-tax have no adverse effects upon the distribution of economic resources among different occupations. Consumers will be free, through the prices offered for different commodities, toexpress their marginal preferences for different commodities ; and since capital will be subjected to death duties in every form of occupation, the factors of production including capital will still flow into those industries in which their marginal products are of the greatest value to the consumers."

बाकी राज्य ले लेगा। परन्तु B की उपार्जित जायदाद का C को $\frac{2}{3}$ भाग मिलेगा और राज्य को $\frac{1}{3}$ भाग। C की मृत्यु होने पर A की पूरी जायदाद राज्य ले लेगा। इस प्रकार दो उत्तराधिकारियों को मिलने के बाद पूरी जायदाद राज्य के हाथ में चली जाती है। इस योजना में अनुमान यह है कि कोई भी आदमी अपने प्रथम उत्तराधिकारी का जितना ख्याल करता है, उतना ख्याल आगे की पीढ़ियों का नहीं करता। कुछ पीढ़ियों के बाद जायदाद खोने का प्रभाव बचत करने की इच्छा पर उतना अधिक प्रतिकूल नहीं पड़ेगा जितना कि अगली पीढ़ी में खोने का। फिर चूँकि B जानता है कि A की जायदाद का काफी बड़ा अंश राज्य ले लेगा इसलिए वह अधिक श्रम और बचत करेगा, जिससे उसके अधिकारी C के रहन-सहन का स्तर कम न हो। इस प्रकार उसकी मनोदशा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की अपेक्षा उसकी काम और बचत करने की इच्छा बढ़ सकती है।

(१) इस योजना में सरकार के लिए प्रबन्ध संबंधी कुछ कठिनाइयाँ अवश्य होंगी, लेकिन इंगलैंड के बोर्ड ऑफ रेव्यनूज का इसके संबंध में मत है "कि देश में रिगनानो योजना के आधार पर क्रियाशील मृत्यु-कर की प्रणाली स्थापित करना असंभव नहीं है"।

(२) न्याय-औचित्य के आधार पर इसकी एक आलोचना की जाती है। मान लीजिये B उत्तराधिकारी के रूप में A से ५०,००० रु० पाता है और यह रुपया कम्पनियों के शेयरों में लगा हुआ है।

"They have two distinct advantages over the income-tax. First, they will not diminish so much the incentive to spend money on capital development. Secondly, they will not disturb the proper balance between work and leisure. They have no serious economic disadvantages provided that, if necessary, the State is itself prepared to save part of its tax-revenue for the purchase of profits of one form or another." (J. E. Meade)

B के जीवन-काल में ये कम्पनियाँ फेल हो जाती हैं और उस उत्तराधिकारी की जायदाद का मूल्य शून्य हो जाता है। परन्तु बाद में अपने प्रयत्नों से B काफी जायदाद उपार्जित करता है। तब क्या B की जायदाद उत्तराधिकार में मिली हुई समझी जायगी और उस पर ऊँची दर से कर लगेगा? अथवा वह उसकी उपार्जित मानी जायगी और उस पर कम दर से कर लगेगा? यदि पहली रीति ग्रहण की गई तो B के साथ बड़ा अन्याय होगा और यदि दूसरी रीति से काम लिया गया तो प्रत्येक उत्तराधिकारी बहाना करेगा कि उसको उत्तराधिकार में मिली और जायदाद का मूल्य कम हो गया है। लोग जालसाजी और कर देने में चोरी (dodge) करेंगे।

(२) डाल्टन ने कहा है कि जिस व्यक्ति की मृत्यु के बाद जायदाद बिल्कुल जब्त हो जायगी वह अपने जीवन-काल में ही सारी जायदाद खत्म (खा-पी) कर सकता है। इसलिए डाल्टन इस योजना में कुछ परिवर्तन चाहते हैं। अगले उत्तराधिकार पर जितना कर देना पड़ेगा उतना कर जायदाद पर साधारण करों के चुकने के बाद और लगा देना चाहिए। इस अतिरिक्त कर के बदले जायदाद के स्वामी को राज्य से एक वार्षिक रकम (Annuity) मिला करेगी और स्वामी के मरने के बाद यह वार्षिकी बन्द हो जायगी। "सिद्धान्त की दृष्टि से उत्तराधिकारी की आय में कमी नहीं होगी परन्तु उसकी मृत्यु होने पर राज्य को अपनी पूँजी मिलने का विश्वास रहेगा।"

षोडश अध्याय

दोहरे या द्वैत कर की समस्या

(Problem of Double Taxation)

"द्वैत कर" की परिभाषा करते हुए प्रोफेसर सेलीगमैन ने लिखा है कि इसका मतलब किसी एक ही व्यक्ति या किसी एक ही वस्तु पर दो बार कर लगाने से है। हमलोग आज औद्योगिक संश्लिष्टता और वैमनस्य से परिपूर्ण युग में रह रहे हैं। द्वैत कर दो भिन्न आधिपत्यों या क्षेत्रों द्वारा लगाया जाता है या एक ही आधिपत्य या क्षेत्र द्वारा भी लगाया जाता है। (आधिपत्य को अँग्रेजी में authority और क्षेत्र को jurisdiction कहते हैं।) मान लीजिये कि कोई आदमी भारत और अमेरिका दोनों देशों में आमदनी कमाता है। अगर भारत और अमेरिका की सरकारें उसकी "सम्पूर्ण" आमदनी पर आय-कर लगावें तो यह द्वैत कर का एक उत्कृष्ट दृष्टान्त होगा। वह दोनों आधिपत्यों को आय-कर ही देता है। सच पूछिये तो सरकारें उस व्यक्ति पर कर नहीं लगाती प्रत्युत वे उसकी आय पर कर लगाती हैं। अतएव द्वैत कर वस्तु के ऊपर लगाया जाता है, आदमी के ऊपर नहीं। एक ही देश में भी द्वैत कर का सवाल उठता है। अगर कोई संघात्मक देश है तो ऐसा हो सकता है कि प्रान्तीय या राजकीय सरकार किसी व्यक्ति की आय के ऊपर कर लगावे और संघात्मक सरकार भी उसपर कर लगावे। किसी उद्योग पर भी दोनों सरकारें लगा सकती हैं। या एक अन्य उदाहरण भी दिया जा सकता है। कोई सरकार किसी संयुक्त पूँजी की कम्पनी के लाभ पर कर लगा सकती है और फिर बाद में उसके शेयर होल्डर्सों

से भी उनके डिविडेन्ड पर कर वसूल कर सकती है। उस दशा में द्वैत कर लिया जायगा। मुनाफे से दो बार कर वसूल किया जा रहा है—उसे वितरण होने के बाद और वितरण होने के पहले। एक ही चीज दो बार कर देने के लिए विवश की जा रही है।

द्वैत कर की समस्या, सेलीगमैन के अनुसार, वर्तमान श्रम एवं पूँजी की गतिशीलता की उपज है। इसकी कठिनाइयाँ स्थानीय करों की महत्ता के बढ़ने के कारण ज्यादा उग्र हो गई हैं।

अब एक सवाल पूछा जा सकता है—द्वैत कर के कौन-कौन लक्षण हैं? ये लक्षण अग्रलिखित हैं—(१) कोई कर तभी द्वैत कर हो सकता है जब वह एक ही वस्तु पर दो बार लगाया जाय। यह दूसरी चीज है कि एक बार उसकी दर प्रगतिशील रखी गई और (या) दूसरी बार वह आनुपातिक कर दी गई, या दोनों बार कर लगाने का तरीका समान रहा या भिन्न। (२) दोनों कर एक ही अवधि में लगाए गए हों। अगर सरकार १९५१ में किसी पर कर लगाये और १९५२ में फिर तो यह द्वैत कर नहीं। अगर एक ही समय १९५१ में वह उसपर दो बार कर लगावे तो यह द्वैत कर का नमूना होगा।

द्वैत करों को दो खंडों में विभक्त किया गया है—पहले खंड में वे द्वैत कर आते हैं जो दो क्षेत्रों या दो आधिपत्यों (प्रतियोगिताशील या प्रतियोगी) द्वारा एक ही व्यक्ति पर लगाए जाते हैं। दूसरे खंड में वे द्वैत कर आते हैं जो एक ही क्षेत्र या आधिपत्य द्वारा एक ही व्यक्ति से लिये जाते हैं। पहले प्रथम खंड पर विचार कीजिये। द्वैत कर उस समय पैदा होगा जब आमदनी का उद्गम स्थान एक देश में हो और आमदनी दूसरे देश में ले जाई जाँय जहाँ कि उसका हकदार रहता है। तब दोनों देशों में आमदनी पर कर लगाया जायगा। इस तरह के द्वैत कर की प्रधानता अन्तर्राष्ट्रीय ऋणत्व की राशि तथा आर्थिक घनत्व (Solidarity) के बढ़ने के साथ अधिक हो गई है। दो सरकारें किसी आदमी की समूची आमदनी

पर कर लगाती है; उतनी ही आमदनी पर कर नहीं लगाया जाता जितनी आमदनी किसी एक देश में अर्जित की जाती है। समूची आमदनी पर कर लगाने का इरादा सरकारों का यह रहता है कि उस व्यक्ति की सामर्थ्यानुसार कर लगाया जाय और सामर्थ्य सम्पूर्ण आमदनी की सृष्टि (function) है। इस खंड में वह भी द्वैत कर आता है जो किसी संघात्मक देश में लगाया जाता है। मान लीजिये भारत की संघीय सरकार किसी बिहारी की आय के ऊपर कर लगावे और बिहार की राजकीय सरकार भी उसी बिहारी की आय पर कर लगावे। तब यह भी द्वैत कर का एक नमूना होगा, क्योंकि कुछ बातों में संघात्मक और राजकीय सरकारें प्रतियोगिताशील होती भी हैं।

अब दूसरे खंड के द्वैत करों के ऊपर विचार-विमर्श करना है। इसकी कुछ दशाएँ ये हैं:—(१) किसी संयुक्त पूँजी कम्पनी या रोजगार के कुल मुनाफे पर कर लगाना और जब उसके सदस्यों को हिस्सा मिले तब उनके हिस्से पर भी कर लगाना। इसी तरह लाभ के वितरण के पूर्व और पश्चात् दो बार कर लगाया जाता है। सदस्यों के ऊपर सामूहिक तौर से और व्यक्तिगत तौर से पृथक-पृथक दो बार कर लगाया जाता है। (२) एक ही आधिपत्य किसी ऋण की रकम के ऊपर ऋण लेने वाले और ऋण देने वाले दोनों से कर ले सकती है। मान लीजिए 'अ' 'ब' से १०० रुपए कर्ज लेता है। अगर सरकार 'ब' पर भी कर लगाती है और 'अ' पर भी तब यह द्वैत कर का उदाहरण हुआ। एक ही ऋण की रकम पर दो बार कर लगाया गया। एक कर रकम के आधिपत्य पर (ownership) और वही कर फिर उसके ऋणत्व या प्रयोग (use) पर लगाया जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि एक ही चीज पर दो बार कर लगाया जाता है। यद्यपि इसमें दो व्यक्ति सम्मिलित है तथापि इस वजह से यह द्वैत-कर ही हुआ। एक ही चीज अपने दो रूपों में कर देती है—पूँजी के रूप में और आय के रूप में। (३) द्वैत कर वहाँ भी

उपस्थित होता है जब कोई आधिपत्य किसी आदमी के ऊपर उस समय एक कर लगाता है जब वह कुछ बचत (Saving) करता है और दूसरी बार जब उस बचत के विनियोग (Investment) करने पर कुछ आमदनी होती है तब वह फिर उस आमदनी पर कर लगाता है। इसे प्रो० पीगू "बचत" का द्वैत कर कहते हैं। उनके अनुसार आय-कर बचत का विरोधी (Discriminate) है। फिशर ने चमत्कारपूर्ण ढंग से लिखा है—"Capital value is derived from income and income is derived from capitale goods. Thus to tax capital is just to tax the expected income out of it"।

अब द्वैत-कर से उत्पन्न बुराइयों के ऊपर विचार करें :—(१) द्वैत-कर अन्यायपूर्ण है। एक ही व्यक्ति की एक ही आय से दो बार कर लेना ठीक नहीं जान पड़ता है। (२) इससे कर की पद्धति में विषमता आती है। कर-पद्धति में अनुरूपता का रहना बहुत अच्छा होता है। (३) एक आदमी से दो बार कर लिया जाय और दूसरे आदमी से एक ही बार कर लिया जाय यह जायज तरीका नहीं। "It is because double taxation involves inequity, it is because it violates the principle of taxation that it is bad"।

द्वैत-कर को कैसे हटाया जाय ? जहाँ तक एक ही आधिपत्य के द्वारा ऐसे कर के लगाये जाने का प्रश्न है, उसका समाधान पाना बहुत ही सरल है। कठिनाई दो प्रतियोगी आधिपत्यों के द्वारा लगाये द्वैत कर की हालत में महसूस होती है। फिर भी विश्व के सभी राष्ट्र आपस में मिलकर एक नीति निर्धारित कर सकते हैं जिसके अनुसार आचरण करने पर द्वैत-कर का निराकरण हो सकेगा। सन् १६२१ में जो अन्तर्राष्ट्रीय जहाजी बेड़ा का अधिवेशन हुआ था उसमें निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया गया :—

"Whilst the shipping industry recoginses its obligation to bear its full share of taxation, it is economically impossible for the individual ship-owner to bear that burden in each and of all the countries to which his vessels sail. It is, therefore, desirable in the interests of international trade that legislation be enacted in every maritime country of the world, giving immunity from taxation in respect to the earnings of foreign shipping in all cases where similar immunity is reciprocally given."

फिर, दुनिया के देश किसी व्यक्ति की आय के भिन्न हिस्सों पर ही (सम्पूर्ण पर नहीं) कर लगाते हैं :या जिस व्यक्ति पर द्वैत-कर लगाया गया है, उसे कुछ छूट-rebate-देते हैं।

कुछ देश इस आधार पर कि कर वस्तुओं द्वारा दिये जाते हैं, व्यक्तियों द्वारा नहीं, आय के उद्गम (Origin) के अनुसार कर लगाने की प्रणाली को मानते हैं। आय के उद्गम को प्रधान आधार माना जाता है। उस दशा में वास-स्थान (Residence) का स्थान गौण हो जाता है। दुनिया के देशों का झुकाव उत्तरोत्तर आय के उद्गम की ओर बढ़ता जा रहा है। लेकिन जहाँ नये पूँजी-विनियोगों का प्रश्न होता है वहाँ वास-स्थान ही निर्णायक तत्व बन जाता है। आस्ट्रेलिया के उपनिवेशों ने, न्यूजीलैंड और ब्रेजिल ने इसीको आधार माना है और तदनुसार अपनी प्रतिभूतियों को वर्तमान और भावी करों से मुक्त घोषित कर दिया है।

द्वैत-कर उस हालत में पैदा हो जाता है जब आय के उद्गम वाले देश में भी कर लगाया जाता है और आय को अर्जित करने वाले के वास-स्थान देश में भी। उद्गम वाले देश की सरकार इसलिये कर लगाती है कि आय उसके यहाँ हासिल की जाती है। वास-स्थान

की सरकार इसलिये कर लगाती है कि आयवाला व्यक्ति उसका नागरिक है। अगर दोनों सरकारों में कोई एक सरकार अपने आधार पर ही कर लगावे तब द्वैत-कर का सवाल खड़ा नहीं होगा। उद्गम वाला देश उस व्यक्ति की जायदाद की निगरानी करता है और उसके तत्त्वावधान में उससे उसे आमदनी होती है। वास-स्थान वाले देश की सरकार उसके जान-माल की रक्षा करती है और उसे प्रवास या विदेश से कमाई आय को खर्च करने की सुविधा देती है।

इस तरह द्वैत-कर से बचने का यही उपाय है कि कर या तो व्यक्ति के वास-स्थान (Residence) के अनुसार लगाया जाय या उसकी जायदाद की स्थिति (Citus or Location) के अनुसार। मान लीजिये वास-स्थान कर लगाने का आधार बना लिया जाता है। यह भी मान लीजिये कि भारत के कुछ नागरिकों की जायदाद इंगलैंड में है लेकिन इंगलैंड के किसी नागरिक की कोई जायदाद भारत में नहीं है। उस हालत में तो इंगलैंड को घाटा होगा क्योंकि भारत के नागरिक इंगलैंड से आमदनी अपने देश में लायेंगे परन्तु इंगलैंड को एक पेन्स भी आमदनी नहीं होगी। लेकिन इस कठिनाई को यत्न करके दूर किया जा सकता है। एक मिश्रित प्रणाली अपनाई जा सकती है जिसमें वास-स्थान तथा जायदाद की स्थिति दोनों ही आधार हो सकते हैं। अचल (Immovable) जायदाद पर स्थिति के अनुसार कर लगाया जा सकता है और चल जायदाद पर वास-स्थान के आधार पर। प्रो० सेलीगमैन ने भी लिखा है कि जब तक देश-देश के बीच कोई समान नीति नहीं तब तक "The simplest plan would be for the state of location to tax the tangible property and the state of residence to tax the intangible property or the income therefrom."।

जब देश-देश के बीच कोई समझौता हो जाता है तब समूची

आय या सम्पत्ति के ऊपर कर लगाना अच्छा होगा और कर से जो राजस्व मिले उसे वास-स्थान और स्थिति वाले दोनों देशों में पूर्व निश्चित अनुपात के अनुसार बाँट देना ही ठीक होगा।

प्रो० सेलीगमैन ने चार सिद्धान्तों का जिक्र किया है जो द्वैत-कर की अड़चन को दूर करने में सहायक हो सकते हैं, यथा—(१) नागरिकता या राजनैतिक भक्ति (Allegiance) (२) अस्थायी वास-स्थान (३) स्थायी वास-स्थान (४) जायदाद की स्थिति। लेकिन उनका मत है कि आज की दुनिया के अधिकांश देश आर्थिक स्वार्थ या भक्ति (Economic Interest or Allegiance) की ओर ज्यादा झुकते नजर आ रहे हैं। इसको सिद्धान्त बनाने का मानी है कि कर का ज्यादा भाग उस देश की सरकार को मिलेगा जहाँ जायदाद है या जब आमदनी प्राप्त होती है, उसका कम भाग उस देश को मिलेगा जहाँ वह आदमी रहता है। लेकिन इस सिद्धान्त की सफलता प्रतियोगी आधिपत्यों के अनुरूप कार्य पर निर्भर करेगी। "If a man owes allegiance to two Governments both should tax him but to avoid double taxation he should be taxed only once on his whole income and the proceeds should be divided between the two Governments in proportion to the economic allegiance he owes will them."। लेकिन इस सिद्धान्त की एक व्यावहारिक दिक्कत है। वह यह है कि यह तय करना कि कोई व्यक्ति किस सरकार के प्रति कितनी भक्ति रखता है, कठिन है। इसी कठिनाई के कारण अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर कुछ योजनाएँ जब-तब बनाई गई हैं। १६२७ में लीग ऑफ नेशनस ने "Committee of Technical Experts on Double Taxation and Tax Evasion" स्थापित की। यह कमिटी जेनेवा में बैठी। उसने कुछ सुझाव दिये। इन सुझावों पर १६२८ में द्वैत-कर के सरकारी विज्ञों की आम सभा में विचार हुआ। उसके

अनुसार अचल जायदाद, शेयर और बोन्डों, उद्योगों, वाणिज्य और कृषि तथा पेन्शन पर (आय के) उद्गम वाला देश ही कर लगायेगा। मजदूरियों पर वास-स्थान का देश कर लगायेगा। International Chamber of Commerce ने भी द्वैत-कर की समस्या पर विचार किया। उसका मत है कि द्वैत-कर को या तो वास-स्थान के आधार पर या आयदाद की स्थिति के आधार पर (अर्थात् किसी एक ही आधार को मानकर) कर लगाना ही ठीक हो सकता है। फिर भी, वह भी वास-स्थान के सिद्धान्त को दोनों में श्रेष्ठतर मानता है जैसा कि लीग ऑफ नेशनस के विज्ञों का मत है। वह दो देशों को आपस में समझौता कर लेने की सलाह देता है।

संक्षिप्त में हम कह सकते हैं कि द्वैत-कर से बचने के चार उपाय हैं :—(१) विदेश आनवाली आय को कर मुक्ति देना (२) कर की रकम को दो देशों के बीच बाँट देना (३) वर्गीकरण का ढंग और जरियों का वितरण (४) विदेश से आई आमदनी में से कर लेने का तरीका। (पहला उपाय इस सिद्धान्त को मानता है कि "The borrowing country cannot successfully tax the foreigner but can only shut him out"।)

उपर्युक्त तथ्यों पर विचार करने के अन्तर हम उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं जो प्रो० सेलीगमेन का भी निष्कर्ष है :—"In the case of double taxation due to conflicts of jurisdiction the ideal principle is that of economic interest or economic allegiance, modified in a few cases by that of political allegiance"। †

---

† "वस्तुजास्य एकवारं शुल्कं ग्राह्यं प्रयत्नतः।
कश्चितेवासकृद् शुल्कं राष्ट्रे ग्राह्यं नृपेश्च्छलात् ॥"

(शुक्र)

द्वितीय भाग
(PART TWO)

सार्वजनिक ऋण-नीति
(PUBLIC DEBT-POLICY)

द्वितीय भाग
सप्तदश अध्याय
सार्वजनिक ऋण
(Public Debt)

सार्वजनिक आमदनी का एक जरिया सार्वजनिक ऋण भी है। यह आधुनिक उत्पत्ति का जरिया है। पहले राजा लोग अपने खजाने का सहारा लेकर युद्ध लड़ते या धनिकों के खजाने पर जबरदस्ती कब्जा कर लेते थे। इस तरह वे लोग युद्ध करते या किसी सुधार का काम करते। इन दिनों वह प्रथा लागू नहीं और प्रजा अपनी सरकार को उधार देने से हिचकती नहीं।

सार्वजनिक ऋण वह ऋण है जो सरकार द्वारा लिया जाता है। जिस तरह कोई साधारण व्यक्ति आमदनी कम होने पर और जरूरत पड़ने पर दूसरों से उधार लेता है, उसी तरह सरकार भी अपनी आमदनी से युद्ध, आदि सहसा उत्पन्न कार्यों को सम्पन्न होता नहीं पाकर अपनी प्रजा से या विदेशों से ऋण लेने को बाध्य होती है। परन्तु साधारण मनुष्य के ऋण और सार्वजनिक ऋण में अन्तर है। सार्वजनिक ऋण सरकार द्वारा लिया जाता है और इसलिए जनता का राज्य के स्थायित्व में विश्वास रहने से ऋण को फिर पा लेने की काफी आशा रहती है। सरकार किसी भी राज्य की सबसे बड़ी शक्ति है। वह लोगों को कर्ज देने के लिए प्रेरित कर सकती है। लोग सरकार को कर्ज लौटाने के लिये प्रेरित नहीं कर सकते हैं। साधारण आदमी बहुत दिनों के लिये ऋण नहीं ले सकता है, क्योंकि उसका जीवन सीमित है, परन्तु सरकार स्थायी है और वह दीर्घकाल

के लिये कर्ज ले सकती है। सरकार स्वयं नोट छापकर चला सकती है। परन्तु यदि कोई आदमी ऐसा करे तो उसे जेल की हवा खानी पड़ेगी।

कर और सार्वजनिक ऋण में फर्क है। कर देने पर किसी आदमी को यह आशा नहीं रहती कि उसे कर की रकम लौटा दी जायगी, परन्तु सार्वजनिक ऋण देने पर प्रत्येक आदमी को आशा रहती है कि सरकार कभी न-कभी सूद के साथ ऋण की रकम लौटा देगी। लोग सरकार को स्वयं बैंक, आदि मौद्रिक-संस्थाओं से कर्ज लेकर दे सकते हैं। कभी सरकार पूँजीपत्र या बोन्ड चलाती है। वे इन्हें समय पर बेचकर अपना काम भी चला सकते हैं। कर में ये सुविधाएँ एकदम नहीं रहतीं। सरकार को कर्ज लेने की जरूरत कुसमय में पड़ती है, जब साधारण राजस्व से काम नहीं चल सकता। प्रजा भी कुसमय में अपनी सरकार की मदद करने के लिए तत्पर रहती है। सरकार को साधारण मनुष्यों की अपेक्षा कम सूद पर ही कर्ज मिल सकता है। लोग सरकार को कर्ज देकर दीर्घावधि तक अपनी पूँजी लगा सकते हैं और अच्छी आमदनी प्राप्त कर सकते हैं।

सार्वजनिक ऋण से पूँजी अधिक उर्वर और और उत्पादनशील बन जाती है। इससे देश की सम्पत्ति बढ़ जाती है। इससे रहन-सहन का प्रमाण भी ऊँचा उठ जाता है। यह सार्वजनिक ऋण का ही सुफल है कि रेल, तार, डाक, आदि कल्याणवर्द्धक विभाग स्थापित हुए हैं। पुलों और बाँधों के बनने से बाढ़, आदि का प्रकोप जाता रहा है। जान-माल की रक्षा हुई है। युद्ध को सफलतापूर्वक समाप्त करने के लिए सार्वजनिक ऋण तो अनिवार्य ही है। सरकार लोगों से उधार लेकर आर्थिक उपादानों का विकास करती है जिससे पिछड़ी जातियाँ उन्नति को प्राप्त करती हैं। जो देश दूसरे को कर्ज देता है अन्तरर्राष्ट्रीय व्यापार उसके लिये अनुकूल रहता है और वह वैदेशिक विनिमय से लाभान्वित होता है। देश-देश के बीच एकता का पुट-पाक होता है। फिर भी अति सार्वजनिक ऋण से नुकसान भी होता

है। जो देश अति उधार लेते हैं उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है, उनकी अन्तरराष्ट्रीय मर्यादा घट जाती है। कितने नए देश कर्ज लेकर फजूल खर्च करने लगते हैं। इससे भावी संतति तकलीफ सहती है। बहुत से देश विदेशी कर्ज लेकर ही परतंत्र हो गये हैं। अधिक कर्ज लेने वाले देश से प्रतिवर्ष कर्ज पर का काफी सूद बाहर चला जाता है। ऋण के कारण कभी-कभी देशों में वैमनस्य और मनोमालिन्य उत्पन्न हो जाता है। विश्व-शांति भंग हो जाती है। फिर भी इन सभी नुकसानों के होते हुए भी सार्वजनिक ऋण से काफी लाभ होता है और यदि इसकी अति नहीं हो तो वह बहुत लाभ की वस्तु है।

सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण
(Classification of Public Debts)

सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण निम्नलिखित युग्मों में हुआ है :-

(१) उत्पादक और अनोत्पादक ऋण

(२) फंडवाले ऋण और बिना फंडवाले ऋण

(३) फ्लोटिङ्ग ऋण

(४) ऐच्छिक और अनिवार्य ऋण

(५) स्वदेशी ऋण और विदेशी ऋण

(१) उत्पादनशील ऋण (Productive Debt)—यह वह ऋण है जो सरकार उत्पादनशील कामों के लिए लेती है। रेल बनवाने या सिंचाई के काम खोलने के लिए जो ऋण सरकार लेती है वह उत्पादनशील ऋण के नाम से अभिहित होता है। इन कामों से जो राजस्व प्राप्त होता है उसमें से धीरे-धीरे यह ऋण चुका दिया जाता है। अनोत्पादनशील ऋण युद्ध जैसे कार्यों के लिए लिया जाता है। बजट में जो कमी होती है वह भी इसी प्रकार के ऋण से पूरी की जाती है।

(२) फंडवाले ऋण (Funded Debt) से अभिप्राय उस ऋण

से है जिसे सरकार इस शर्त पर लेती है कि वह सूद तो देती जायगी परन्तु ऋण के मूल को वह कब लौटाएगी इसका निश्चय घोषित नहीं किया जाता है। ३½ प्रतिशत सूद के पूँजीपत्र जो भारतीय सरकार द्वारा चलाए जाते हैं वे इसी तरह के होते हैं। बिना फंडवाले (unfunded) ऋण वे हैं जिसको सूद के साथ सरकार निश्चित तिथि पर लौटा देने का प्रण करती है। भारतीय सरकार के बोन्ड इसी प्रकृति के हैं।

(३) फ्लोटिङ्ग ऋण वे हैं जिन्हें एक साल के भीतर ही लौटा दिया जाता है। केन्द्रीय बैंक ट्रेजरी बिलों को खरीदकर सरकार को इसी प्रकार का ऋण देता है। वह Ways and Means एडवान्सों को भी चलाकर फ्लोटिङ्ग ऋण देता है।

(४) ऐच्छिक कर (Voluntary) ऋण प्रजा द्वारा सरकार को अपनी इच्छा पर दिए ऋण हैं। अनिवार्य ऋण (Compulsory) अब नहीं लिए जाते। पुराने जमाने में राजा लोग जबरदस्ती लोगों से इस प्रकार का ऋण लेते थे।

(५) जब सरकार अपने ही राज्य में ऋण लेती है तब वैसे ऋण को स्वदेशी ऋण कहते हैं। यदि बाहर के देशों से सरकार ऋण लेती है तब वैसे ऋण को विदेशी (Foreign) ऋण कहते हैं।

कभी-कभी सरकार पारितोषिक वाले (Prize) ऋण भी लेती है। लोग जुआवाली भावना के वशीभूत होकर लोटरी-चिट्ठा-खरीदते हैं और उनमें जो जीतते हैं उन्हें इनाम दिया जाता है। कुछ वार्षिक (Annuity) बोन्ड भी होते हैं जिनपर सरकार उनके क्रेताओं को प्रति साल निश्चित वार्षिकी देती है।

कब उधार लेना चाहिए ?
(When to Borrow ?)

सार्वजनिक ऋण उसी समय लिया जाता है जब सरकार का

प्राप्त राजस्व आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ नहीं होता। यहाँ यह भी देखना जरूरी है कि कैसे समय में सरकार को प्रजा से उधार लेना चाहिए। कभी-कभी ऐसा अवसर आ पड़ता है कि सरकार को कर्ज लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है। उस समय कर लेना और कर्ज लेना ये ही दो उपाय उसके सामने रहते हैं। नए करों को लगाना कठिन है, पुराने करों की दरों को बढ़ाना भी मुश्किल ही है। फिर भी इस तरह सरकार की आमदनी कुछ बढ़ ही जाती है। परन्तु जितनी आमदनी जरूरी होती है वह बिना ऋण लिये पूरी नहीं हो सकती। इसलिये सार्वजनिक ऋण ही सरकार का आपत्ति काल में सहायक होता है। यहाँ यह देखना है कि सार्वजनिक ऋण किन-किन अवस्थाओं में लिया जा सकता है।

(१) जब किसी अचानक घटना या कारण की वजह से सरकार का राजस्व कम प्राप्त होता है, ऐसी हालत में बजट की कमी को पूरा करने के लिए ऋण लेने की जरूरत पड़ जाती हैं। करों के द्वारा राजस्व को उपलब्ध करने में समय लगता है और असुविधाएँ होती हैं। ऐसी हालत में ऋण ही एकमात्र सहारा है। फिर भी यदि बराबर ही बजट में कमी होती रहे तो साधारण खर्चों को हटा देना चाहिये या कर लगाकर कमी को पूरा करना चाहिए।

(२) संकट के समय भी सरकार को कर्ज लेना जरूरी हो जाता है। उदाहरण के लिए युद्ध को चलाना बिना ऋण के असंभव है। ऋण लेने से आसानी से काम चल सकता है। लोगों के ऊपर भार भी नहीं पड़ता है। कुछ लोग कर्ज लेकर युद्ध चलाने की नीति को ठीक नहीं समझते और करों के द्वारा युद्ध के खर्च को पूरा करने की सलाह देते हैं। वे कहते हैं कि (अ) सार्वजनिक ऋण से साख की अधिस्फीति शुरू हो जाती है। कीमतें बढ़ जाती हैं। इसका खराब प्रभाव पड़ता है। (ब) सार्वजनिक ऋण की नीति आसान तो जरूर है, किन्तु इससे भावी पीढ़ी पर ज्यादा भार पड़ता है, यद्यपि वर्त्तमान

पीढ़ी के कारण युद्ध होता है। फिर भी इसके द्वारा करों की अपेक्षा अधिक पैसा मिलता है। लोगों का मनोविज्ञान करों के खिलाफ होता है। (स) सार्वजनिक ऋण की अपेक्षा करों का तरीका इसलिये अच्छा है कि करों की वसूली से धनी लोगों के खर्च से बचा पैसा निकल जायगा और गरीबों के जीवन पर कुप्रभाव नहीं पड़ेगा। (द) गरीब लोग तो युद्ध में अपनी जानें अर्पित करते ही हैं। धनी लोग आराम से दिन काटते हैं। न्याय की दृष्टि से उनपर कड़ा कर लगाना बहुत ही उचित है। इस प्रकार वे भी युद्ध में अपना हाथ बँटा सकेंगे।

इन प्रतिकूल तर्कों के बावजूद भी सार्वजनिक ऋण का तरीका अधिक अच्छा है और अकेले कर से समूचा खर्च नहीं चल सकता है। इसलिए कर लगाने का तरीका और सार्वजनिक ऋण लेने के तरीका का सामंजस्य बहुत जरूरी है।

(३) सरकार भी बहुत से वाणिज्य-संबंधी काम-धंधे चलाती है। उनमें काफी पूँजी को लगाना पड़ता है। उधार लेकर ही सरकार इन कार्यों को पूरा कर सकती है। इन काम-धन्धों से उसे आमदनी होती है। उसी आमदनी के द्वारा सूद के साथ मूल ऋण वापस कर दिया जाता है। ऋण लेने का औचित्य सरकारी शासन की अच्छाई पर निर्भर करता है। यदि व्यक्तिगत प्रबन्ध के समान ही सरकारी प्रबन्ध है तो यही अच्छा है। भारतीय सरकार ने भी कर्ज लेकर ही सिंचाई और रेलवे-जैसे कार्यों को सम्पन्न किया है। जनता का इनसे बहुत हित हुआ है। सार्वजनिक-ऋण को लेकर इन कार्यों को करना इसलिए भी अच्छा है कि उसके भार को भावी पीढ़ी पर डाला जा सकता है क्योंकि भावी पीढ़ी इन कार्यों से ज्यादा लाभान्वित होती है।

(४) सामाजिक लाभ के कार्यों के लिये भी सार्वजनिक ऋण का

आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। ऐसे कार्यों की पूँजीवाली लागत उधार लेकर पूरी की जा सकती है, परन्तु प्रतिदिन के खर्च को कर्ज लेकर नहीं चलाना चाहिये। करों से ही काम नहीं चल सकता। अस्पताल, पुल, और राजमार्गों का निर्माण भरसक प्राप्त राजस्व से ही होना चाहिये। हाँ, कमी को पूरा करने के लिये सार्वजनिक ऋण भी जरूरी है। सरकार को कर और ऋण लेते समय देखना चाहिये कि इनसे उद्योगों पर बुरा असर नहीं पड़े और समाज का जीवन क्षुब्ध न हो।

सार्वजनिक ऋण की भी हद है। जिस तरह किसी व्यक्ति की कर्ज लेने की शक्ति सीमित है, उसी तरह राष्ट्रीय सरकार की यह शक्ति भी परिमित है। कर्ज लेने पर लौटाना भी होता है। सरकार लौटाने की उम्मीद देखकर ही कर्ज लेती है। उसे अपनी सुरक्षा का भी खयाल रखना पड़ता है। सरकार पत्र-मुद्रा का निर्माण करती है, पर उसकी भी एक सीमा है जिसका उल्लंघन करना देश-हित के लिये घातक होता है। पत्र-मुद्रा का निर्माण सबल शस्त्र जरूर है परन्तु उसके दुष्परिणामों को देखकर उसकी अति नहीं की जा सकती। कीमतों की वृद्धि, मुद्रा के मूल्य के ह्रास, आर्थिक जीवन के शैथिल्य, जो इस शस्त्र के फल हैं, उससे हमारा मन सशंकित रहता है। विदेशी ऋण भी एक हद तक लिया जा सकता है। उसके लिए सरकार की आर्थिक स्थिति और मर्यादा गिनी जाती है। बजट के द्वारा ही यह मालूम किया जा सकता है कि किस देश की कर्ज लेने वाली शक्ति कैसी है? उसीको देखकर विदेशी सरकार कर्ज देती है। देश की भीतरी शक्ति भी सीमित है। लोगों की बचतों पर ही सरकार की उधार ले लेने वाली शक्ति टिकी रहती है। सरकार लोगों की कुल बचाई सम्पत्ति को नहीं ले सकती। उद्योग-धंधों को चालू रखने के लिए प्रवहनशील पूँजी की जरूरत होती है। इस पूँजी को सरकार

नहीं हड़प सकती। इसलिये देश के भीतरी ऋण-प्राप्ति की भी एक सीमा होती है। कहने का आशय यह है कि सार्वजनिक ऋण की एक मर्यादा होती है जिसे पार करना असंभव है और संभव बनाया गया तो घातक होता †

---

† इस अंश की विशेष जानकारी के लिए आगे का अध्याय भी पढ़ना चाहिए—लेखक।

अष्टदश अध्याय

सार्वजनिक ऋण की कुछ समस्याएँ

(Some Problems of Public Debt)

इस अध्याय में हम सार्वजनिक ऋण की तीन समस्याओं पर विचार करेंगे—(१) सार्वजनिक ऋण की विशेषताएँ—उससे लाभ और हानि (२) सार्वजनिक ऋण से उत्पन्न प्रभावों का विवेचन और (३) सार्वजनिक ऋण के भार का विश्लेषण।

सर्व प्रथम सार्वजनिक ऋण की विशेषताओं के ऊपर दृष्टिपात करें और देखें कि कौन-से उससे लाभ और हानियाँ होती हैं। पहले उसके गुण-पक्ष पर विचार कीजिए। आपत्ति या संकट की घड़ियों में मुद्रा की बड़ी शीघ्र जरूरत पड़ती है और उस परिस्थिति में सर्व-साधारण से कर वसूल करने में काफी दिक्कत हो सकती है, समय भी बहुत लग सकता है। लेकिन सार्वजनिक ऋण सुविधापूर्वक मिल जा सकता है और इसमें समय की भी बचत होती है, सरकार की बेचैनी बढ़ने नहीं पाती। आए दिन हम पाते हैं कि समाज बराबर संकटा-पन्न रहता है। सरकार के कार्यों की परिधि भी बहुत विस्तारित हो चुकी है। सार्वजनिक व्यय का परिमाण भी बहुत बढ़ चुका है। सरकारें विकास की नई-नई योजनाएँ बनाती और कार्यान्वित करती हैं। एटम बम के इस युग में कितने देशों में परमाणु-शक्ति की जाँच-परीक्षा बड़े जोश के साथ हो रही है। पहले दकियानूसी और ठोस (Sound) आय-व्यय-पत्रक बनाने की प्रथा थी। सरकारें अपने आय-व्यय को संतुलित रखती थीं और वे सार्वजनिक ऋण की ओर अपनी नजर तक नहीं दौड़ाती थीं। उन्हें सार्वजनिक ऋण के नाम

से ही सिहरन पैदा हो जाती थी। अगर कभी सार्वजनिक ऋण लिया भी जाता था तो उसकी रकम बहुत ही कम होती थी। सरकारें अपने कोषों में मुद्रा संचित करके रखती थीं, गाड़कर रखती थीं। इससे मुद्रा की एक विपुल राशि ही बेकाम पड़ी रहती थी। उसकी बरबादी होती थी। यह एक फिजूल और अमितव्ययितापूर्ण ढंग था। मुद्रा को आलसी बनाकर, पंगु बनाकर रखने का मतलब कुछ साधनों को निकम्मा बनाकर रखना है। यह हर्ष का विषय है कि वर्तमान सरकारें ऐसा नहीं करतीं। वे अपने पास बहुत कम मुद्रा रखती हैं। जब जरूरत पड़ती है तब वे अपनी प्रजा से उधार लेना बेहतर समझती हैं। उन्हें इसके लिए कोई एतराज नहीं होता। सार्वजनिक ऋण से पूँजी की सृष्टि होती है। आज के समाज में साख की प्रणाली बहुत लोचवती है और मुद्रा मानों जादू की छड़ी से उत्पन्न की जाती है।

सार्वजनिक ऋण लेने पर मुद्रा-स्फीति या अधिस्फीति (Inflation) की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। इससे यह भी फायदा होता है कि समाज के अन्तर्गत मुद्रा का जो सम्पूर्ण परिमाण है वह ज्यों-का-त्यों रहता है और उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। जिस मुद्रा से लोग अपना काम करते उसे वे सरकार को ऋण में देते हैं और सरकार उस मुद्रा का उपयोग सार्वजनिक मदों में करती है। इस तरह व्यक्तिगत क्रय-शक्ति सार्वजनिक क्रय-शक्ति का रूप धारण कर लेती है। फिर, जब सरकार लिए ऋण को वापस करती है तब भी वह कोई नई मुद्रा-राशि का निर्माण नहीं करती, वह पुरानी ली हुई मुद्रा या क्रय-शक्ति को ही लौटा देती है। उस समय भी मुद्रा का परिमाण समाज में ज्यों-का-ज्यों रहता है और उससे कोई परिवर्तन नहीं होने पाता। सार्वजनिक ऋण लेने-देने से केवल एक ही घटना घटती है। वह है क्रयशक्ति का समाज के वर्ग-वर्ग के बीच हस्तान्तर। ऐसा इसलिए होता है कि सरकार सार्वजनिक ऋण का विभिन्न उपयोगों में वितरण करती है और इसी मानों में हम कह सकते हैं कि पहले

उपयोगों में क्रय-शक्ति का जो वितरण था वह नया रूप धारण कर लेता है।

सार्वजनिक ऋण की एक आकर्षक विशेषता यह है कि उसपर ऋण देनेवाले को सूद भी मिलता है, मूलधन के साथ सूद। "आम का आम, गुठली का दाम"! इससे लोगों को सरकार को कर्ज देने में प्रेरणा होती है। लोग सरकार की प्रतिभूतियाँ (Securities) और ऋण-पत्रों (Bonds) को बड़े चाव से खरीदते भी हैं।

हम पिछले अध्यायों में उन अवस्थाओं का उल्लेख कर आये हैं जिनमें सरकार सार्वजनिक ऋण लेना अनुमोदनीय है। उन्हीं के प्रसंग में हम इतना कह सकते हैं कि सरकार कुछ ऐसे आवर्तनशील (Recurring) व्यय सार्वजनिक ऋण द्वारा कर सकती हैं जो अस्वाभाविक (Abnormal) हैं, अन्यथा स्वाभाविक आवर्तक व्ययों को तो करों की रकम द्वारा ही पूरा करना उचित है। अनावर्त्तक व्ययों को तो सार्वजनिक ऋण द्वारा हर हालत में पूरा करना चाहिये। सार्वजनिक ऋण की एक बड़ी विशेषता यह है कि वह अपने भुगतान का रास्ता खुद निकाल लेता है। जब सरकार ऋण लेकर सार्वजनिक कार्यों में उसे खर्च करती है तब समाज की आय बढ़ जाती है और सरकार को करों से अधिक राजस्व मिलता है। सार्वजनिक ऋण व्ययित होने पर अस्तित्व में नूतन पूँजी को लाता है। इसीलिए कहा भी गया है कि "Public Debt finances itself"।

सार्वजनिक ऋण का फल एक दीर्घकाल तक परिव्याप्त रहता है। इससे वर्तमान तथा भावी दोनों पीढ़ियों को लाभ पहुँचता है। उत्कृष्ट अर्थनीति वही है जो व्यय तथा लाभ दोनों को सव्यावस्था में रखती है। अगर भावी पीढ़ी को कुछ लाभ होता है तब उसको भी कुछ व्यय सहना चाहिए। उसी तरह वर्तमान पीढ़ी को भी।

व्यावसायिक पतन—मन्दी (Depression)—के समय सार्व-

जनिक ऋण की महत्ता बहुत बढ़ जाती है। समय की दृष्टि से आय के वितरण में परिवर्तन करना अपरिहार्य हो जाता है। लोग कभी वर्तमान में काफी मिहनत करके भविष्य के लिए अत्यधिक आमदनी संचित करना चाहते हैं और करते हैं। ऐसी दशा में राज्य का फर्ज होना चाहिये कि वह भविष्य के लिए संचित आय का कुछ भाग वर्तमान काल में स्थानान्तरित करे और ऐसा सार्वजनिक ऋणों द्वारा ही साध्य हो सकता है। इन ऋणों को गैर-उत्पादक ध्येयों की सिद्धि में खर्च करना चाहिये अर्थात् उन्हें सीमित अवधि में खत्म हो जाना चाहिये। इसलिये सरकार इन्हें शिक्षा, पुलिस, शस्त्रीकरण, आदि में खर्च कर सकती है। ये आवर्तक व्यय हैं और वर्ष-दो वर्षों में समाप्त हो जा सकते हैं। मन्दी के समय काफी सामाजिक साधन निठल्ले पड़े रहते हैं। उस समय सरकार "घाटा-पत्रक" (Deficit Budget) बना सकती है और अपनी आय से ज्यादा व्यय करने का कार्यक्रम बना सकती है जो कमी होगी उसे वह लोगों से उधार लेकर पूरा कर सकती है। अगर समाज की अवस्था और बनावट ऐसी है कि सरकार उत्पादक कार्य सम्पन्न ही नहीं कर सकती तब उसे अनुत्पादक कार्य करने के लिए ही कटिबद्ध होना चाहिये, तुल पड़ना चाहिये। लार्ड केन्स ने बेकारी को मिटाने और सामाजिक आय को बढ़ाने के लिये "अनुत्पादक व्यय" करना भी समर्थनीय बतलाया है। सरकार बेकार मजदूरों को धरती में सूराक बनाने और सूराक भरने तथा फिर सूराक बनाने के लिए नियुक्त कर सकती है और उन्हें इसके लिए मजदूरी दे सकती है, क्योंकि मजदूर अपनी मजदूरी से खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने की चीजों की माँग करेंगे जिससे इन चीजों का उत्पादन इनके उद्योगों में बढ़ जायगा और अधिक मजदूर लगाए जायेंगे और आगे चलकर पूँजीगत सामानों (Capital goods) के उद्योगों में भी अधिक उत्पादन होगा और अधिक मजदूर बहाल किए जायेंगे। इस तरह बेकारी या रोजी की लहरें ही उमड़ पड़ेंगी और वे उस समय तक उमड़ती रहेंगी जबतक

जितने बेकार लोग हैं कोई-न-कोई रोजी या काम न पा लें। समाज के यों ही बड़े साधनों का पूरा उपयोग होने लगेगा। केन्स ने अपने गुणक के सिद्धान्त—Principle of the Multiplier—द्वारा इस प्रवृत्ति और संभवनीयता की विशद विवेचना की है। (पढ़िए हमारी पुस्तकें "आधुनिक अर्थशास्त्र" और "व्यावसायिक संगठन") यह उत्तेजक सिद्धान्त—Principl of the Accelerator—द्वारा भी सिद्ध है। जिस तरह मोटर गाड़ी के गतिवर्द्धक—accelerator—को दबाने से उसकी गति बढ़ जाती है उसी तरह सरकार सार्वजनिक ऋण लेकर जब उसका व्यय करती है, तब वह सामाजिक व्यवसाय को उत्तेजित कर उसकी गति को बढ़ा देती है और उससे समूची आर्थिक प्रणाली ही आन्दोलित हो उठती है।

अगर सरकार को हरजाना (Reparation) देना हो तब भी वह सार्वजनिक ऋण का आश्रय ले सकती है। यदि पराजित देश के नागरिक पृथक-पृथक हरजाना देने की चेष्टा करें तो वह सफल नहीं हो सकती और बहुतों को अधिक सूद पर कर्ज लेने के लिये बाध्य होना पड़ेगा। लेकिन सरकार को जब हरजाना देना होता है तब वह उसके बोझ को अपने कर देनेवालों के बीच में बाँट देती है। उसे बहुत कम सूद पर उधार मिल भी जाता है। फिर वह जो ऋण लेती है उसकी मियाद बड़ी होती है। कितने सार्वजनिक ऋण तो बिना मियाद के ही होते हैं जिन्हें मृतक-भार-ऋण (Dead weight debt) कहते हैं। दीर्घकालीन सार्वजनिक ऋणों से ऋणदाताओं को दोहरा फायदा होता है। एक तो वे अपनी पूँजी को ठोस वस्तु में लगा देते हैं। दूसरे, अगर वे अपनी पूँजी को वापस लेना चाहें तो वे बड़े मजे से सुनहली कोर की सरकारी प्रतिभूतियों या ऋण-पत्रों को किसी व्यक्ति या बैंक के हाथों कुछ बट्टे पर बेचकर ऐसा कर सकते हैं। डी विटी डी मार्को (इटालियन अर्थशास्त्री) ने सार्वजनिक ऋण की बड़ी प्रशंसा की है और उसके सार्वजनिक अर्थ व्यवस्था में मूर्द्धन्य स्थान पाने का कारण देते हुए लिखा है—

"सच्ची बात तो यह है कि सरकारी प्रतिभूतियों या ऋण-पत्रों को आसानी से बेचा जा सकता है और उनके दाम भी काफी स्थिर होते हैं। उनके चालू होने से जनता की एक अतिरिक्त सेवा भी हो जाती है। लोगों के बीच साख तथा ऋण के वितरण का काम सरल हो जाता है।"

जैसा कि अभी कह आए हैं कि सार्वजनिक ऋण से पूँजी अधिक उत्पादक हो जाती है। उत्पादन का परिमाण बढ़ जाता है राष्ट्रीय सम्पत्ति भी बढ़ जाती है। लोगों के रहन-सहन का स्तर भी उन्नत हो जाता है। सरकार की सार्वजनिक कार्य-नीति देश की भलाई में बहुत सहायक होती है। प्राकृतिक प्रकोपों के समय तो सार्वजनिक ऋण ही एकमात्र सहारा होता है। बाढ़, भूकम्प, आदि द्वारा हुई क्षतियों से बचने के लिए सार्वजनिक ऋण की सहायता अनिवार्य हो जाती है। आधुनिक युद्ध को बिना सार्वजनिक ऋण के चलाना मुश्किल हो जायगा और किसी राष्ट्र की जान और स्वतंत्रता खतरे में पड़ जा सकती है। पिछड़े देशों में प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग करने के लिये सार्वजनिक ऋण लेना होता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का कथन है कि बैंकों की संख्या जो इतनी बढ़ गई है उसका एक कारण सार्वजनिक ऋण का चालू करना भी है। "Trade follows the flag as well as does the bank"। सार्वजनिक ऋण को खर्च करने पर कई उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है। अगर सार्वजनिक ऋण का प्रश्रय एकदम नहीं लिया जाय तो मुद्रा-स्फीति का सहारा लेना होगा जिसका मतलब होगा समाज को भारी धक्का पहुँचाना।

अन्त में सार्वजनिक ऋण के पक्ष में हम यह कह सकते हैं कि जब सरकार विदेशी ऋण लेती है तब उससे उसका काम तो होता ही है, साथ ही साथ विदेश को भी अपनी पूँजी को आय के सुरक्षित और लाभदायी स्रोतों में लगाने का मौका मिलता है। इससे

व्यापार-लेखा में हुए किसी असंतुलन को दूर करने में भी मदद मिलती है। देश-देश के बीच मैत्री का भाव बढ़ता है। नागरिकों के मानस-क्षितिज का, उनके दृष्टिकोण का विशदीकरण होता है।

सार्वजनिक ऋण के जहाँ इतने गुण हैं वहाँ उसके कुछ अवगुण भी हैं। सबसे बड़ा अवगुण सार्वजनिक ऋण का यह है कि एकबार सरकार इसका सहारा लेना शुरू कर दे तो वह इतने परिमाण में सार्वजनिक ऋण लेने लगेगी जो कदापि न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता है। कितने देशों की सरकारों ने अनुचित परिमाण में सार्व-जनिक ऋण ले लिया और उससे लद गईं। इसका कारण यह है कि सार्वजनिक ऋण पाना बहुत आसान है और सरकार इसीलिए अति भी कर सकती है। निडर सरकार इस बात पर भी डटकर सार्वजनिक ऋण ले सकती है कि वह उसे वापस ही नहीं करेगी।

दूसरी बात, जो सरकार चलाते हैं वे आखिर आदमी हैं और भारी गलती कर सकते हैं। उनको कभी-कभी आम जनता की भलाई की परवाह नहीं भी रह सकती है। वे लापरवाही से काम ले सकते हैं और सार्वजनिक ऋण का अपव्यय कर सकते हैं। उन्हें अपनी जेब से लोगों को रुपया थोड़े लौटाना है? इससे अन्धाधुन्ध सार्वजनिक ऋण लिया और खर्च किया जा सकता है।

चूँकि लोग सार्वजनिक ऋण अपनी वर्तमान या अतीत बचतों से देते हैं, इसलिए उनकी भावी बचतों को धक्का पहुँचता है। उनकी बचतें कम हो जाती हैं। फलतः उनकी आय भविष्य में न्यून हो जाती है।

दूसरे स्कूल के मतावलम्बियों का तर्क है कि सार्वजनिक ऋण का भार भावी संतति या पीढ़ी के ऊपर पड़ता है। अतएव भावी पीढ़ी को ही जो कुछ उसका फायदा हो उसे मिलना चाहिए। दूसरे शब्दों में, भविष्य में व्यय तथा लाभ दोनों को समान होना चाहिये। उधार लेने का अर्थ होता है भविष्य से लेना। इस वजह से भविष्य

में ही कुछ जोड़ना अच्छा होगा। नहीं तो, भविष्य तथा वर्तमान की आमदनियों का संतुलन गड़बड़ा जायगा। सार्वजनिक ऋण को वैसे ही मदों में खर्च करना चाहिये जिनसे भविष्य में लाभ पहुँचे।

सार्वजनिक ऋण से फिजूल खर्ची भी बढ़ती है। कुछ सरकारें खर्चालु योजनाओं को कार्यान्वित करती हैं। योजनाओं के खर्च का अनुमान ऊल-जलूल ढंग से लगाया जाता है। नतीजा होता है कि वे खर्च के भार से लद जाती हैं—काफी सूद देने की झंझट रहेगी। बर्बादी भी कम नहीं होगी।

कभी-कभी विदेशी ऋण लेने के चलते कोई-कोई सरकार गुलाम भी हो गई है। मिस्र के साथ यही बात हुई। उसकी राजनीतिक स्वतंत्रता जाती रही। कभी कोई सरकार विदेशी सरकार से कर्ज लेने के लिए अपनी अचल पूँजी, आदि को गिरवी पर रख देती है और बाद में उसको गिरवी से छुड़ाने में काफी परेशानी उठानी पड़ती है। खास कर विदेशी ऋण की हालत में शर्तें बहुत ही प्रतिकूल हुआ करती हैं और उससे देश से धन निकल कर बाहर (Drain) चला जाता है। युद्ध के लिये जो बाह्य ऋण लिया जाता है उस पर कड़ा सूद देना पड़ता है और इस प्रकार के ऋण और सूद तो मृतक भार स्वरूप ही हैं। फिर, विदेशी लेन-देन से अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें भी बढ़ जा सकती हैं। देश-देश के बीच मैत्री का भाव बढ़ने के बदले शत्रुता भी पनप सकती है दुर्व्यवहार से तंग आने पर प्रतिशोध लेने की धुन देशों पर सवार हो जाती है।

आन्तरिक सार्वजनिक ऋण के विरुद्ध यह कहा जाता है कि यदि उसका भुगतान स्वस्थ्य और न्यायोचित ढंग से नहीं हुआ तो इससे सूद लेनेवाले और सूद देनेवाले वर्गों के बीच स्थायी अन्तर उत्पन्न हो सकता है और इस प्रकार का अन्तर बहुत आपत्तिजनक है। लेकिन साधारणतया यही देखने में आता है कि इन दोनों वर्गों

के बीच का अन्तर कभी परिलक्षित नहीं होने पाता और इस तरह की आशंका भी निमूर्ल होती है।

अन्त में डाल्टन की ये पंक्तियाँ हम उद्धृत कर सकते हैं— "Public debt is a series of transfers from the younger to the older generation, from the active to the passive elements in the economic life of the community"

इतना होने पर भी सार्वजनिक ऋण के गुण उसके अवगुणों से अधिक हैं और यही कारण है कि वह आधुनिक सरकारों के साथ इतना लोकप्रिय है।

अब सार्वजनिक ऋण की दूसरी समस्या पर विचार करें। सुविधा के ख्याल से हम समूची समस्या को दो खंडों में बाँट सकते हैं—(१) आन्तरिक (देशी) सार्वजनिक ऋण और (२) बाह्य (विदेशी) सार्वजनिक ऋण। आन्तरिक (देशी) सार्वजनिक ऋणों के प्रभावों को भी तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—(१) उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभाव (२) उपभोग पर पड़ने वाले प्रभाव और (३) वितरण पर पड़ने वाले प्रभाव। प्रभाव भी दो तरहों के हो सकते हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभावों में से प्रत्येक प्रभाव भी दो कोटियों का हो सकता है—(१) मुद्रागत (Money) और (२) वास्तविक (Real)।

आन्तरिक सार्वजनिक ऋण समाज के वर्गों के बीच आय और सम्पत्ति के हस्तान्तर की एक शृंखला (Series) मात्र है। अगर आन्तरिक ऋण के वापस लौटाने और उसके ऊपर के सूद को चुकती करने से समाजगत आयों के वितरण की विषमता कम होती है तथा उसकी समता बढ़ती है तो उससे एक प्रत्यक्ष वास्तविक लाभ (Benefit) ही होगा। लेकिन ऐसी बात शायद ही कभी होती है। अकसरहा सरकारी प्रतिभूतियों और ऋण-पत्रों को खरीदने वाले

समाज के धनी वर्ग होते हैं। "Public securiters are held mainly by the wealthier classes" (Dalton) इसका दुष्परिणाम यह होता है कि इनकी आय बढ़ जाती है और इससे समाज की आर्थिक असमानता और भी उद्दाम हो जाती है। यह ठीक है कि वे भी सरकार को करों में काफी रकम देते हैं और करों की रकम से ही उनके द्वारा दिये हुये ऋणों पर सरकार सूद देती है। जिस अंश तक वे कर देते हैं उस हद तक मूलधन और सूद मिलने पर उन्हें उतना कम लाभ होता है। फिर भी करों की प्रगतिशीलता उतनी बड़ी नहीं, जितनी बड़ी सार्वजनिक ऋण और उसके सूद के भुगतान की अप्रगतिशीलता (Regressiveness) होती है।

सूद देने और सार्वजनिक ऋण वापस करने के लिये कर-वसूली का प्रभाव लोगों की काम करने और बचत करने की योग्यता और इच्छा पर अहितकर पड़ सकता है। अगर सार्वजनिक ऋण अनुत्पादक कार्यों में खर्च किया गया तो इससे उसका दुरुपयोग होगा। लेकिन जब सूद और मूलधन वापस किया जायगा तब उससे काम करने और बचत करने की योग्यता बढ़ जा सकी है। ऋणदाता-वर्ग को अगर कर्ज वापस मिलने की उम्मीद रहे तो उससे उनकी काम करने और बचाने की इच्छा बढ़ने के बजाय घटेगी ही। करदाता-वर्ग के उन्हीं सदस्यों को जिन्होंने सार्वजनिक ऋण दिया है सूद और ऋण की रकम वापस मिलने की आशा रहती है। इसलिये उनकी काम करने और बचाने की इच्छा नहीं बढ़ेगी। इतना कहने पर भी हम निश्चयतापूर्वक नहीं कह सकते कि सार्वजनिक ऋण का काम करने और बचत करने की योग्यता और इच्छा पर ठीक-ठीक प्रभाव क्यों पड़ेगा क्योंकि यह एक बड़ा जटिल विषय है इसके लिये हमें आय के लिये लोगों की जो व्यक्तिगत लोच होती है उसके ऊपर विचार करना होगा।

सार्वजनिक ऋण के खर्च करने से व्यक्तिगत उद्योगों द्वारा तैयार की हुई चीजों (सेवाओं) की माँग बढ़ जाती है। अगर उनकी तिपू

करने की प्रेरणा कम नहीं हुई तो उससे उन उद्योगों के उत्पादन पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। सरकार समाज में क्रय-शक्ति के परिमाण को बढ़ाती है, मानों पिचकारी से क्रय-शक्ति छोड़ी जा रही हो! यद्यपि धनिकों से कर लिया जाता है और उनकी क्रय-शक्ति कुछ मात्रा में घट जाती है तथापि सरकार ऐसे लोगों को क्रय-शक्ति देती है जिससे समाज की समूची क्रय-शक्ति (जो समाज की माँग को प्रभावोत्पादक बनाने में काम में लाई जाती है) में खालिस (net) वृद्धि होती है। इससे खानगी उद्योगों की चीजों की माँग खूब बढ़ जाती है। उपभोक्ता की वस्तुओं की माँग ज्यादा होने से उनका उत्पादन भी अत्यधिक होता है और इससे उत्पादकों की वस्तुओं का भी उत्पादन बढ़ चलता है। लेकिन यहाँ एक बात विचारणीय है। अगर सरकार कुछ चीजों और सेवाओं का उत्पादन और पूर्ति खुद अपने उद्योग-धंधों और शासन-प्रणाली द्वारा कर रही है और यदि उन चीजों और सेवाओं का उत्पादन व्यक्तिगत उद्योग भी कर रहे हैं तब उस अवस्था में सरकारी उद्योगों और व्यक्तिगत उद्योगों में प्रतिद्वन्द्विता हो सकती है। सरकार उन लोगों को जिन्हें वह मुद्रा (क्रय-शक्ति) देती है यह आदेश दे सकती है कि वे उन चीजों को उसके उद्योगों से ही खरीदें, उस हालत में व्यक्तिगत उद्योगों का उत्पादन उतना नहीं बढ़ सकेगा। लेकिन सार्विक रूप से देखने पर समाज के सम्पूर्ण उत्पादन में वृद्धि तो अवश्यमेव होगी। लेकिन सरकार ऐसा आदेश शायद ही करती है। किस सरकारी और व्यक्तिगत-उद्योग में उत्पादन की कितनी वृद्धि होगी यह बात इसपर निर्भर करेगी कि लोग अपनी क्रय-शक्ति को किस अनुपात में किस उद्योग पर खर्च कर रहे हैं।

अगर सरकार कुछ सार्वजनिक ऋण को उत्पादन के कुछ कच्चे मालों को तैयार करने (या उपजाने) के मद में खर्च करती है और अगर ये कच्चे माल व्यक्तिगत उद्योगों द्वारा काम में लाए जाते हैं तो इससे कच्चे मालों का दाम कम हो जायगा और इससे उत्पादन

का औसत खर्च भी घट जायगा। सरकार सार्वजनिक ऋण के थोड़ा-थोड़ा अंश को यातायात तथा आवागन के साधनों को विकसित करने, औद्योगिक अन्वेषण को संवृद्ध करने, ज्ञान के प्रसार करने, आदि में खर्च कर सकती है। इससे भी उत्पादन का औसत खर्च न्यून हो जा सकता है। इससे उद्योगों को सामूहिक रूप से फायदा पहुँचेगा।

परन्तु उत्पादन के मौलिक (बुनियादी) साधनों—श्रम एवं पूँजी—के क्षेत्र में सरकार व्यक्तिगत उद्योगों के साथ प्रतियोगिता कर सकती हैं और यदि उनकी पूर्ति सीमित हुई तो उनके पारिश्रमिक (मजदूरी तथा सूद) बढ़ जायेंगे। इससे उत्पादन का औसत खर्च भी बढ़ जायगा। मगर जब इन साधनों के बीच बेकारी की बीमारी फैली रहती है तब इस तरह की संभवनीयता नहीं रहती है। फिर, चतुर (Skilled) श्रमिकों की पूर्ति चूँकि बराबर कम-अभावग्रस्त—रहती है इसलिए सरकार व्यक्तिगत उद्योगों में बड़ी तत्परता से होड़ ले सकती है और उनसे इन चतुर श्रमिकों को छीन भी ले सकती है!

स्वाभाविक समय में पूँजी का उतना अभाव नहीं रहता और उस समय सार्वजनिक ऋण से उसका दाम (सूद) बढ़ नहीं सकता। उत्पादन का औसत व्यय भी स्थिर रहता है। लेकिन प्रचुर सार्वजनिक ऋण से सूद की दर बढ़े बिना नहीं रह सकती। फिर भी हम जानते हैं कि सरकार कभी भी बाजार में प्रचलित सूद की दर नहीं देती, क्योंकि वह काफी ऊँची होती है। वह कम दर पर ही कर्ज लेती है। जब मुद्रा-बाजार से वह कम दर पर ऋण उगाहने में चूक जाती है, असमर्थ हो जाती है तभी वह बाजार की प्रचलित सूद-दर से ज्यादा देने को बाध्य होती है।

अब हमें उपभोग के ऊपर सार्वजनिक ऋण के प्रभावों पर दृष्टिपात करना है। यह पीछे कहा जा चुका है कि लोग सार्वजनिक ऋण को हेय दृष्टि (Odium) से नहीं देखते, वे उसमें अपनी भूतकालीन या वर्तमानकालीन बचतों को लगाते हैं। वे अपनी वर्तमान खपत

को कम नहीं करते। उपभोग पर जितना व्यय वे करते थे उतना ही व्यय वे करते रहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि उपभोग के कम न होने पर भी उत्पादन कुछ बदल जा सकता है। जब कुछ लोग सरकारी ऋण-पत्रों को खरीदने के लिए संयुक्त पूँजी की कम्पनियों के अपने शेयरों को दूसरों के हाथ बेच देते हैं और शेयरों को खरीदने वाले अपने-अपने बैंकों के जमा से उन्हें खरीदते हैं तब उस हालत में व्यक्तिगत पूँजी-विनियोग (capital investment) का परिमाण कम हो जा सकता है। मगर यहाँ भी एक अपवाद है। अगर बैंक के जमा Deposits—आखिरी हद—Saturation Limit–तक पहुँचे नहीं है तब उत्पादन में कोई कमी नहीं हो सकती।

जो लोग यह कहते हैं कि सार्वजनिक ऋण में पूँजी लगाने से बचत कम हो जाती है वे गलत कहते हैं। सच पूछिये तो बचत अक्षुण्ण रहती है। बचत किसी दूसरे रूप में न रहकर सरकारी ऋण-पत्रों के रूप में लगी रहती है। यही फर्क है। सरकार बाद में कर लगाती है। सार्वजनिक ऋण देनेवालों को भी कर देना पड़ता है। वे अपनी खपत को कम कर सकते हैं। इसलिए सामान्यतः या ऐसे लोगों की उपभोग पर सम्पूर्ण व्यय कुछ कम हो जाता है। लेकिन यह इतनी मात्रा में नहीं होता कि इसके संबंध में एक व्यापक और सामान्य नियम ही बना लिया जाय। एक अन्य कारण से भी उत्पादन न्यून नहीं होने पाता। सार्वजनिक ऋण वापस कर दिया जाता है और लघुकालीन सार्वजनिक ऋण जल्दी वापस किया जाता है। इससे बचतें पुनः बढ़ जाती है। अधिक पूँजी लगाई जाती है।

सरकार भी सार्वजनिक ऋण को अचानक मदों में खर्च करती है। वह समाज के बृहत्तर कल्याण को अपने ध्यान में रखती है। दृष्टि भविष्य की ओर भी लगी रहती है।

वितरण पर सार्वजनिक ऋण के कुछ प्रभावों का उल्लेख हम पीछे कर आये हैं (देखिए पृ० १८२ परिच्छेद संख्या १)। उस सिलसिले में हम इतना जोड़ देना चाहते हैं कि वस्तुओं और सेवाओं

के उत्पादन के परिवर्तित होने से सर्वसाधारण की आमदनी भी परिवर्तित हो जाती है। सार्वजनिक ऋण के कारण आय या सम्पत्ति का जो हस्तान्तर होता है वह सामूहिक तौर से देखने पर उत्तम ही मालूम पड़ता है। अगर धनी लोग कुछ अधिक धनी हो जाते हैं तो गरीब लोग भी कुछ कम गरीब बन जाते हैं और गरीबी की कमी की मात्रा अधिक होने से सामाजिक उपकार ही होता है। यह प्रो० मेहता और प्रो० अग्रवाल का मत है, लेकिन इसको हम थोड़े संशोधन के साथ स्वीकार करेंगे। ऐसा उसी समय होगा जब सरकार सार्वजनिक ऋण को उत्पादक मदों में खर्च करती है। ऐसा उस समय मान्य नहीं हो सकता जब सरकार उसका व्यय अनुत्पादक मदों में करती है। उत्पादक मदों (रेल, पूल, नहर, बाँध, आदि) में जब सार्वजनिक ऋण को व्ययित किया जाता है तब स्पष्ट रूप से भविष्य में समाज की आय और भलाई बढ़ जाती है।

ऊपर हमने आन्तरिक सार्वजनिक ऋण के विभिन्न प्रभावों का एक विशद अध्ययन प्रस्तुत किया है। उससे यह साफ झलकता है कि सार्वजनिक ऋण के प्रभावों को जानने के लिए हमें चार बातों पर अपनी नजर डालनी होगी—(१) सार्वजनिक ऋण का परिमाण कितना है और वह किन-किन जरियों से प्राप्त किया जाता है (२) सार्वजनिक ऋण के उद्देश्य क्या हैं ? (३) उस पर कितना सूद देना पड़ता है। (४) उसको भुगतान करने की शर्तें और साधन क्या हैं ? अगर सार्वजनिक ऋण का परिमाण थोड़ा है, अगर वह लघुकालीन है तो बेकार पड़ी मुद्रा से ही काम चल सकता है। अगर वह बड़ा और दीर्घकालीन है तो लोगों के हाथ से मुद्रा का बड़ा हस्तान्तर सरकार के हाथ में होगा। इससे खानगी उद्योगों और व्यापारों को आघात भी पहुँच सकता है, राष्ट्रीय आय घट सकती है और बेकारी बढ़ सकती है। ऐसा नहीं भी हो सकता है। इसके प्रतिफल साधनों का एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जो प्रवेश या आगमन (Diversion) होगा उसका प्रभाव अच्छा भी हो सकता है, बुरा

भी हो सकता है। यह परिस्थिति के ऊपर निर्भर करेगा। अगर सरकार बहुत खर्च करेगी तो मूल्य-तल ऊँचा हो जायगा और इससे समाज की विषमता बढ़ जाएगी। (मूल्य-तल में परिवर्तन पर होने के परिणाम क्या होते हैं इसके लिए हमारी पुस्तक "मुद्रा-शास्त्र और बैंक-शास्त्र" पढ़िए) दूसरी बात, अगर सार्वजनिक ऋण अनुत्पादक कामों को पूरा करने के लिए लिया जाता है तो उसका प्रभाव अच्छा नहीं होगा। अगर वह उत्पादक कामों के लिए लिया जाता है तो उसका प्रभाव अच्छा होगा। तीसरी बात, अगर सूद की दर बहुत ज्यादा है तो उसको अदा करने के लिये काफी राजस्व की आवश्यकता पड़ेगी। फिर, महँगी में लिया सार्वजनिक ऋण अगर सस्ती आने पर दिया गया तो उसका भयंकर और भीषण प्रभाव समाज की आर्थिक नीति पर पड़ सकता है। सूद की दर के मामूली रहने पर ये बातें पैदा नहीं होती। चौथी बात का भी महत्व इस विषय में है और इसके ऊपर हम अलग विचार करेंगे।

अभी तक हमने सार्वजनिक ऋण के प्रत्यक्ष मौद्रिक या नामांकित (Money or Nominal) प्रभावों का विवरण दिया है। लेकिन उसका वास्तविक (Real) प्रभाव भी पड़ता है। वास्तविक प्रभाव के दो रूप हैं—भारगत (Burden) और हित गत (Benefit)। सार्वजनिक ऋण के प्रत्यक्ष वास्तविक भार लोगों के त्याग, कष्ट, आर्थिक कल्याण की क्षति, प्रकृति की ओर इंगित करता है। नौजवान लोग सैनिक-बहाली (Conscription) में सम्मिलित रण-क्षेत्र पर जाते और काम आते हैं, बूढ़े लोग सरकारी प्रतिभूतियों और ऋणपत्रों को खरीदते हैं। यह समाज के लिए महती वास्तविक त्याग है। डाल्टन ने भी लिखा है—"Here, if nowhere else in the sphere of public finance. the voice of equityring loud and clear." डाक्टर बेनहम भी इसपर आठ-आठ आँसु बहाते हैं, अफसोस करते हैं। अगर सार्वजनिक ऋण के कारण धनिकों से गरीबों के पास पैसा आता है तो इससे

समाज का प्रत्यक्ष वास्तविक लाभ होता है। सार्वजनिक ऋण के अप्रत्यक्ष भार से मतलब उत्पादन और उपभोग में होनेवाले अवरोध से है।

अन्त में वाह्य (विदेशी) सार्वजनिक ऋणजन्य प्रभावों के ऊपर विचार करना है। जब वाह्य ऋण लिया जाता है तब उसका निकट परिणाम होता है लेने वाले समाज की क्रय-शक्ति की राशि को बढ़ा देना। जब वाह्य ऋण लौटाया जाता है तब उसका विपरीत परिणाम होता है। इस कोटि के ऋण में हम यह पाते हैं कि जब उसे लौटाना होता है तब सरकार धनी-वर्ग से कर में एक खासी मोटी रकम वसूल करती है और इससे स्वदेश के धनी-वर्ग को कोई लाभ नहीं होता, उल्टे नुकसान ही पहुँचता है। इस दृष्टि से वाह्य ऋण के द्वारा स्वदेश में आय और सम्पत्ति के वितरण की विषमता कुछ अंश तक कम हो जाती है। यह एक प्रत्यक्ष वास्तविक लाभ ही है। लेकिन इस तथ्य की ऊपरी सतह को देखकर कोई निर्णय देना गलती से खाली नहीं होगा। उसकी भीतर सतह को हमें देखना होगा कि किस तरह स्वदेश को विदेश में कर्ज के बदले कितनी सम्पदा-चीजों और सेवाओं—की कितनी बड़ी राशि भेजनी पड़ती है। वाह्य ऋण का प्रत्यक्ष वास्तविक भार इसके प्रत्यक्ष वास्तविक लाभ से अधिक होता है। लाभ पर जोर देनेवाले कहते हैं कि वस्तुओं तथा सेवाओं के निर्यात से स्वदेश की रोजी और उत्पादन में वृद्धि होती है और यह वृद्धि किसी क्षति से बहुत अधिक है। लेकिन ये लोग तनिक भी नहीं सोचते कि निर्यात वाले में जो वृद्धि होती है वह गैर निर्यातवाले उद्योगों को उद्योगों को नुकसान पहुँचाकर। गैर-निर्यात के उद्योग की रोजी और उत्पादन में उतनी ही कमी हो जाती है। बेकारी की हालत से वाह्य ऋण का वापस होना अच्छा हो सकता है क्योंकि उससे बेकारी कम हो सकती है। लेकिन उत्पादन और रोजी का उत्थान केवल इसी बात पर निर्भर नहीं। वह अन्य बातों, जैसे—

मुद्रा की पूर्ति, विनिमय की दर, व्यापार-नीतियाँ, इत्यादि—पर भी निर्भर है।

सार्वजनिक ऋण के विषय में तीसरी समस्या उसके भार की है। कुछ लोग मानते हैं कि सार्वजनिक ऋण का कोई भार ही नहीं होता। पुराने दकियानूसी अर्थशास्त्रवेत्ता सार्वजनिक ऋण को भारवत् मानते थे। कुछ अर्थशास्त्री सार्वजनिक ऋण को तो भारवत् नहीं मानते लेकिन उसको लौटाने के लिए और उसके सूद देने के लिए जो कर लगाये जाते हैं उनको भारवत् बतलाते हैं। एक हैं डा० मोलटन। उनका विचार है कि अगर सार्वजनिक ऋण पर के सूद देने के लिए लगाया कर कोई भार नहीं तो स्थानीय संस्थाओं (जैसे, म्युनिसप्लेटी, कॉरपोरेशन, आदि) द्वारा लगाया कर भी भार नहीं। डाक्टर लरनर सार्वजनिक ऋण के पक्ष में कहते हैं कि उस राष्ट्रीय ऋण की राशि का, जो देश के लोगों के हाथ में रहता, कोई महत्व नहीं होता। उसका केवल एक महत्व होता है और वह है देश में पूरी रोजी को कायम रखना।

दोनों तरह की विचारधाराओं की अपनी-अपनी त्रुटि है। एक ओर जो लोग सार्वजनिक ऋण को भारवत् मानते हैं वे इस बात को विस्मृत कर देते हैं कि उसका अनुकूल प्रभाव आय और बचत पर पड़ता है। दूसरी ओर, जो लोग उसको भारवत् नहीं मानते हैं वे इस बात को भुला देते हैं कि सार्वजनिक ऋण और उस पर के सूद को भुगताने के लिए जो कर वसूले जाते हैं उनका व्यावसायिक प्रोत्साहन (Enterprise) और बचत पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। सार्वजनिक ऋण का भारवत् होना या न होना, कम या अधिक भारवत् होना कई बातों पर मुनहसर करता है। प्रो० हैनसेन ने इसीलिए लिखा है, "The burden of Public Debt depends to a large extent on its distribution and the shifting of the burden of the taxes imposed for its repayment."।

फिर कुछ लोग कहते हैं कि सार्वजनिक ऋण के बोझ को भावी संतति या पीढ़ी पर डाला जा सकता है। कुछ लोग कहते हैं कि ऐसा असंभव है। जो लोग पहली बात कहते हैं वे यह तर्क देते हैं कि सार्वजनिक ऋण कोई स्थिर वस्तु नहीं है, यह कोई Shuttle cock नहीं है जो आगे-पीछे घूमता रहे। यह दीर्घकाल में परिव्याप्त रहता है। वर्तमान पीढ़ी जो सार्वजनिक ऋण लेती है उसको अगर उत्पादक कार्यों में खर्च किया गया तो अवश्य उसका लाभ भावी पीढ़ी उठाएगी जब उन कार्यों की सफलता के सुस्वादु फल वह चखेगी। वर्तमान पीढ़ी भी सार्वजनिक ऋण के सूद का भार सहती है। अगर सार्वजनिक ऋण की अवधि या मियाद ५० वर्षों तक की हुई तो निर्विवाद रूप से वर्तमान पीढ़ी को भी उसके भार को वहन करना होगा। लेकिन अगर उसकी मियाद ५० वर्षों से अधिक की है तो भावी पीढ़ी को उसके बोझ का वहन करना होगा। लेकिन जो फल खाता है उसे कुछ बोझ भी ढोना ही चाहिए। जो लोग वर्तमान पीढ़ी को अनुत्पादक खर्च (युद्ध, आदि पर) के लिए जिम्मेदार बतलाते हैं वे कहते हैं कि वर्तमान पीढ़ी अपनी बुराई का प्रायश्चित भावी पीढ़ी से कराती है अर्थात् भावी पीढ़ी को ऐसे कार्य के लिए उठाए सार्वजनिक ऋण का भार सहना पड़ता है। लेकिन एक बात है। युद्ध को कोई मन से बुलाता नहीं; युद्ध को परिस्थितियों से लाचार होकर स्वीकार किया जाता है। अगर परिस्थियाँ युद्ध चाहती हैं तो देश की आजादी को बचाने के लिए सार्वजनिक ऋण लेना जरूरी भी हो जाता है। अगर आजादी जाती रहे तो जाति का यथार्थ अस्तित्व, उसकी मर्यादा खत्म हो जा सकती है और उस समय उसकी भावी पीढ़ी पर जो भार पड़ेगा उसका दबाव बहुत होगा। केवल बाह्य ऋण का भार भावी पीढ़ी पर डाल दिया जाता है और वर्तमान पीढ़ी उसपर कुछ सालों तक सूद देकर बेदाग बच जाती है।

हम अपने निष्कर्ष को डा० के० के० दीवेत के शब्दों में यों रख

सकते हैं, "Though loans have a tendency to shift their burden to the future generation, the present gneration may also be affected by the government borrowing. If the loan is a short-term loan (up to 50 years) the future generation is not touched. But even in the case of a long term loan posterity pays posterity and posterity does not suffer as a whole।

एकोनविंशति अध्याय

युद्ध को चलाने के साधन

(Means of Conducting A War)

युद्ध का खर्च किस तरह किया चलाया ? इसके लिये कोई सरल उत्तर नहीं है। युद्ध चलाने के साधनों के संबंध में दृढ़तापूर्वक हम नहीं कह सकते कि अमुक साधन ही सर्वोत्तम साधन है। इस विषय में रूढ़िवाद या हठधर्मी (dogmatism) की गुंजाइश नहीं। युद्ध के अर्थशास्त्र पर हमें कई दृष्टियों से विचार करना होगा। युद्ध चलाने की नीति को देश की कर-नीति की बनावट से सामंजस्य रखना चाहिये। इसमें कई विपरीतताओं को समन्वित करना होगा। युद्ध-नीति, शान्ति-नीति, संक्रमणकालीन नीति—इन विभिन्न नीतियों पर विचार-विमर्श करना होगा। युद्धोत्तर मन्दी और आर्थिक ढिलाई को भी हम भुला नहीं सकते। आर्थिक नीति के दो पहलू किसी भी समय होते हैं—आन्तरिक (राष्ट्रीय) और बाह्य (अन्तर्राष्ट्रीय)। इन दोनों पहलुओं का भी संतुलन होना चाहिये।

युद्ध चलाने में बहुत खर्च होता है। खर्च के दो भेद होंगे—मौद्रिक और वास्तविक। मौद्रिक खर्च का तात्पर्य मुद्रागत खर्च से है। वास्तविक खर्च से तात्पर्य युद्ध-जनित दुःख-शोक, सामाजिक असमानता, परेशानी, आदि से है। युद्ध के कारण समाज की असमानता बढ़ जाती है। कितने नौजवान युद्ध-भूमि में काम आते हैं। इससे जन-संख्या की वृद्धि रुक जाती है। श्रम-शक्ति में ह्रास होता है। प्रो० सेलीगमैन ने इन युद्ध-व्ययों को क्रमशः व्यक्तिनिष्ठ तथा पदार्थनिष्ठ युद्ध-व्यय कहा है।

इन चीजों के कारण एक नये प्रकार की कर-नीति की बुनियाद डालनी पड़ती है। दकियानूसी साधनों के बदले उदार साधनों को अपनाया जाता है। इससे युद्धकालीन आर्थिक प्रणाली को शान्ति-कालीन आर्थिक प्रणाली का रूप प्रदान करने में सुविधा होती है।

युद्ध चलाने के साधनों को दो व्यापक श्रेणियों में विभक्त किया गया है—कर-सम्बन्धी (Fiscal) और आर्थिक (Economic)। कर-सम्बन्धी साधन ये हैं—कर, ऋण, पूँजी की वसूली (Capital Levy), ऋण-शोधन (Debt Redemption), सिंकिंग फंड, आदि। आर्थिक साधन के भी दो भेद हैं—मौद्रिक (Financial) और गैर-मौद्रिक (Nonfinancial)। मौद्रिक साधनों के प्रमुख भेद हैं—स्थगित वेतन-योजना (Deferred Payscheme), मुद्रा-प्रसार या मुद्रा-स्फीति, देश के आर्थिक अवदानों का नियमन तथा प्रबन्ध, लाभाधिक्य कर (Excess Profits tax), व्याव-सायिक लाभ-कर (Business Profit tax), लेन-देन सम्बन्धी समझौते (Lend Lease Agreements), विदेशी कर्ज (Foreign Loans), विक्रय-कर, क्रय-कर, आदि। गैर-मौद्रिक साधनों में प्रमुख साधनों के नाम ये हैं—मूल्य-नियंत्रण, रैशनिङ्ग, विनिमय-नियंत्रण, मजदूरी की नीति, स्थूल साधन और युद्धोत्तर योजनाएँ। हमें युद्ध के कुल खर्च, अवधि, मुद्रा-बाजार की दशा, और राजनैतिक वातावरण का विचार करना पड़ेगा। बहुत-से अर्थशास्त्रवेत्ताओं का कथन है कि युद्ध का खर्च केवल करों के द्वारा चलाना चाहिये। रिकार्डो ने कुल खर्च को केवल कर के द्वारा चलाने की सलाह दी थी। करों के द्वारा खर्च चलाने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क पेश किये जाते हैं।

(१) अधिक कर लगाने से खपत के अत्यधिक और बनावटी व्यय को रोका जा सकता है। धनी लोग कर देंगे और गरीब लोगों से रहन-सहन का स्तर निम्न नहीं होगा।

(२) केवल करों के द्वारा युद्ध चलाने से वर्तमान पीढ़ी महसूस कर

सकेगी कि लड़ाई लड़ने का नतीजा क्या होता है। लोग युद्ध से भयभीत होंगे। ग्लैडस्टोन ने ठीक कहा है "The expenses of a war are the moral checks which it has pleased the Almighty to impose upon the ambition and the lust of conquest that are inherent in so many nations."

(३) करों से साख की स्फीति नहीं हो सकता। सार्वजनिक ऋण की अधिकता के कारण ऐसा हो सकता है। करों के द्वारा एक वर्ग से क्रय-शक्ति दूसरे वर्ग में जाती है। मुद्रा-स्फीति एक छिपा हुआ कर है जो आमदनी के अनुपात में लगता है और उससे लोगों की आमदनियों का मूल्य ही घट जाता है। गरीब लोगों पर अधिक भार पड़ता है। फिर भी, कर की अति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि इससे पूँजी क्षुण्ण होती है और व्यापार तथा व्यवसाय बाधित होता है।

(४) पीछे कह आये हैं कि किस तरह युद्ध में अधिकांश गरीब लोग भर्ती होकर अपनी जानें देते हैं और धनी लोग मौज उड़ाते हैं। इसलिये यह उचित है कि धनियों पर भी पूरा कर लगाया जाय जिससे वे भी युद्ध के भार को कुछ-कुछ ढो सकें।

(५) करों की प्रणाली से युद्धोत्तर करों का बोझ जो ऋण चुकाने के फलस्वरूप मालूम होता है, हट जाता है। युद्ध के बाद चीजों की कीमतें गिर जाती हैं और ऋण का वास्तविक बोझ बहुत अधिक हो जाता है।

(६) सिर्फ करों से ही युद्ध चलाने की नीति इसलिये प्रतिपादित की जाती है कि इससे युद्ध का खर्च न्यूनतम होगा। युद्ध की अवधि भी कम होगी।

(७) इस नीति को अपनाने से युद्धोत्तर प्रश्न मिट जाते हैं। ऐसे प्रश्न सरकार के दिमाग को थकानेवाले होते हैं।

(८) कर द्वारा युद्ध चलाने से समाजगत आर्थिक असमानता भी कुछ कम हो जा सकती है।

फिर भी करों के एकमात्र साधन को ही अपनाकर सरकार अपना सारा व्यय नहीं चला सकती। इस साधन के विरुद्ध में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

(१) कर की मशीनरी को बढ़ी आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त तुरन्त नहीं बढ़ाया जा सकता। पुराने करों को बढ़ाने से भी अभीष्ट आमदनी नहीं मिल सकती। अदम स्मीथ ने बहुत पहले ही कहा था कि करों की प्रणाली में दो और दो मिलकर हमेशा चार नहीं होते, वे साधारणतया तीन के बराबर हो सकते हैं। इसको समय की अपेक्षा रहती है, परन्तु इसके हेतु सरकार की आवश्यकताएँ बैठी नहीं रह सकतीं। इसलिये ऋण लेना अनिवार्य हो जाता है।

(२) नये करों को लगाकर भी अभीष्ट रकम नहीं उगाही जा सकती और न आवश्यकताएँ ही पूरी हो सकती, हैं नये करों को लगाने और वसूलने में भी काफी समय लगता है। अतएव कुछ उधार लेना अपरिहार्य हो जाता है।

(३) आधुनिक काल के किसी युद्ध में इतना खर्च लगता है कि यदि एकमात्र करों के द्वारा खर्च चलाने की कोशिश की जाय तो जनता पर बहुत ही प्रभाव पड़ेगा और उन्हें असह्य कष्ट होगा। यदि सभी बड़ी आयों और व्यावसायिक मुनाफों को सरकार जब्त कर ले तोभी युद्ध का आधा खर्च भी नहीं चल सकता।

(४) अधिक करों से उच्च वर्गों को सरकार की भक्ति में ह्रास हो सकता है जो सरकार के लिये अनैच्छिक है, साधारण धनी लोग तो अधिक कर नहीं दे सकते।

(५) इसके कारण पाँचवें फन्दे के लोग षड्यन्त्र रच सकते हैं। इसका दुष्परिणाम यह होगा कि गृह मार्चा भी हत होगा। लोगों की उदार (दान-पुण्य) और जन-सेवा की भावनाओं को धक्का पहुँच सकता है।

(६) सार्वजनिक ऋण की अच्छाई को हम नहीं भुला सकते। लोग उसको हेय दृष्टि से नहीं देखते। करों की अपेक्षा सार्वजनिक

ऋण अच्छा है। कुछ लोग जीवन की जरूरियत चीजों पर कम खर्च करके युद्ध के बोन्ड खरीदते हैं। ऋण से उत्पादन को उत्तेजना मिलती है। लोग अपनी आवश्यकताओं से बची पूँजी ही उधार देते हैं। इससे उद्योग पर आघात नहीं पहुँचता। ऋण की आमदनी से सरकार जरूरी चीजें खरीदती है। यद्यपि अत्यधिक सार्वजनिक ऋण से अधिस्फीति होती है, तथापि उससे से लोगों को काम करने की प्रेरणा मिलती है।

अन्त में यही कह देना युक्तिसंगत जान पड़ता है कि न तो एकमात्र करों से और न एकमात्र सार्वजनिक ऋण से युद्ध का खर्च चलाना उचित है, क्योंकि कोई भी साधन अभीष्ट पूँजी नहीं दे सकता। हमें दोनों साधनों का सामंजस्य स्थापित करना चाहिये। प्रधानता तो करों की होनी चाहिये पर इनके साथ लोगों से सरकार उधार भी ले। अदम स्मीथ ने कहा था कि शान्तिकाल में लोग जो फिजूलखर्ची होते हैं उसीके कारण युद्धकाल में कर्ज काढ़ने की नौबत आती है। लोग चाहे कितना भी पैसा क्यों न जमा करें उन्हें युद्ध शुरु होने पर उधार लेना ही पड़ेगा। युद्ध के खर्च को चलाने के लिये सर्वोत्तम नीति यही है कि तलवार की मुट्ठी (hilt) तक कर लिया जाय और शेष भाग के बराबर उधार।

पीछे ही कह आए हैं कि ऋण देशीय और विदेशीय दोनों प्रकार के हो सकते हैं। प्रथम महायुद्ध के अवसर पर युद्ध में शामिल राष्ट्रों ने कुल मिलाकर १५ प्रतिशत युद्ध-व्यय विदेशी ऋण से चलाए थे। यद्यपि युद्ध-काल में बाहरी ऋण बहुत भार-स्वरूप मालूम पड़ सकते हैं तथापि वे लाभदायी होते हैं। उनका मिलना और लेना तीन बातों पर निर्भर करता है (१) युद्ध की अवस्थाएँ (२) वापस मिलने या न मिलने की आशंका (३) कर्ज लेनेवाले देश की साख या प्रतिष्ठा। युद्ध में पराजित देश से विजित देश इधर मुआवजा (Reparation) लेने के बदले उसके पूँजीगत प्रसाधनों को कमजोर करना अधिक पसन्द करता है जिससे उसकी सैन्य-शक्ति

ढीली पड़ जाय। इस तरह हम देखते हैं कि सार्वजनिक ऋण में आन्तरिक और वाह्य ऋणों का सामंजस्य होना चाहिए। भरसक आन्तरिक ऋणों से ही काम चलाना चाहिये, इससे यह लाभ होता है कि सार्वजनिक ऋण व्यापक रूप से विभाजित रहता है। (Public Debts should spread be in wide commonalty)

पूँजी-वसूली (Capital Levy) का भी महत्त्व युद्ध चलाने के एक साधन के रूप में है। पूँजी-वसूली का सबसे उपयुक्त समय युद्धोत्तर काल मन्दी या व्यापारिक पतन के आने का पूर्व काल है। एक तो युद्ध की याद ताजी रहती है, दूसरे इससे युद्धोत्तर मन्दी और बेकारी को दूर करने में मदद मिलती है। सामाजिक सेवाओं को सम्पन्न करने के लिए कोष जमा हो पाता है। पूँजी-वसूली से समाज के कई वर्गों के कष्टों को समान बनाने का अवसर मिलता है। एक ही झपट्टे में युद्धोत्तर समस्याओं का हल निकल जाता है। फिर, पूँजी की वसूली कोई अनैतिक कार्य भी नहीं।

डाल्टन के शब्दों में पूँजी-वसूली की घोषणा इस तरह होगी—"A law would be passed by which every man and woman of a suitable degree of wealth would be deemed to die and to come to life again next morning as are fortunate heir to his or her own property on payment of an appropriate ransom."।

लेकिन पूँजी-वसूली के विपक्ष में बतलाया जाता है कि यह पूँजी और साख दोनों को नुकसान पहुँचाती है जिससे उद्योग एवं व्यापार को धक्का पहुँचता है। यह मितव्ययिता के ऊपर लगाया हुआ कर है। इसलिए यह ग्राह्य नहीं। "ऐसा कहा जाता है मानो सूअर को पकाने के लिए घर को जलाया जा रहा हो!" (डाल्टन)। व्यापार और उद्योग को धक्का पहुँचने से कीमतें तो घटती ही हैं मजदूरी भी घट जाती है। यह धनिकों की कर्ज लेने की शक्ति को घटा देती है। इसके

अलावे शासन की भी दिक्कतें पूँजी-वसूली के कारण पैदा होती हैं। इतना होने पर भी पूँजी-वसूली के गुण उसके अवगुण से अधिक हैं और अधिकांश प्रगतिशील देशों में इसका उपयोग किया जाता है।

सार्वजनिक ऋण को वापस करने (Redemption) के कई जरिए हैं। युद्ध के समाप्त होने पर सरकार एलान कर सकती है कि वह अमुक-अमुक व्यक्तियों को उनके रूपए वापस नहीं करेगी अथवा इतनी रकम में इतनी ही रकम वापस की जा सकेगी। विदेशी ऋण को नहीं देने का एलान कोई सरकार शायद ही कर सकती क्योंकि उससे उसकी साख उठ जाने की आशंका रहती है या इसको लेकर झगड़ा-फसाद भी हो सकता है। सरकार कर्ज देनेवालों को बुलाकर सूद की दर में हेर-फेर कर सकती है या विविध कर्जों की विविध अवधियों को घटा-बढ़ा सकती है। दूसरा उपाय भी है कि एक ऋण-परिशोध कोष कायम कर दिया जाय और उसमें से शनैः शनैः लोगों को उनके ऋण वापस किए जायँ।

१६३६ में लार्ड केन्स ने स्थगित वेतन-योजना (Deferred Pay Scheme) का प्रतिपादन किया। इसे इंगलैंड की सरकार ने द्वितीय महायुद्ध के समय कार्यान्वित किया। भारतवर्ष में भी १६४२-४३ के बजट में इसे लागू किया गया। इस योजना के अग्रलिखित ध्येय हैं—लोगों की फिजूल क्रय-शक्ति को काटना-छाटना, पूँजी-योग और पूँजी-संचय की दो विपरीत प्रवृत्तियों को संतुलित करना, युद्धकालीन और शान्तिकालीन आर्थिक प्रणालियों का अभियोजन करना, सेना और सरकार की माँग और आम जनता की माँग को नियंत्रित करके सम्पूर्ण उत्पादन एवं उपभोग में लय स्थापित करना, अधिक कमानेवाले लोगों के वेतन के कुछ भाग को अलग रखवाना जिसे वे युद्धोत्तर मन्दी, बेकारी को रोकें, रेशनिंग चलाना, योजना के अन्त में पूँजी-वसूली करना। इस योजना के अनुसार लोगों के वेतन के निश्चित अंश अलग कोष में संचित किए जाते हैं और उनके निकासी करने का समय पहले से दिया रहता है। यह योजना

Self-liquidating होती है चाहे वास्तविक साधनों की बात हो या कोष की बात हो।

युद्ध चलाने के लिए सरकार के हाथ में जादूगर के हाथ में की जादू की छड़ी की तरह पत्र-मुद्रा - निर्माण का जादूभरा शस्त्र रहता है, पर यह शस्त्र खतरनाक है! आधुनिक युद्ध में सभी देश इसकी मदद लेते हैं। फिर भी इसका उपयोग सतर्कता और बुद्धिमानी के साथ होना चाहिए। इससे अनेकों हानियाँ होती हैं। आन्तरिक और विदेशी व्यापार बिगड़ जाता है। विनिमय की गति विकृत हो जाती है। सट्टा की बाढ़ होती है। व्यवसाय में अनिश्चयता उत्पन्न होती है। कीमतों की उत्तरोत्तर वृद्धि से साधारण लोग तबाह हो जाते हैं। बँधी आमदनी वाले लोग कष्ट भोगते हैं। कुछ लोग अनुचित नफा उठाते हैं, बहुत लोग नुकसान। सट्टावालों और मुनाफाखोरों की बन आती है। सरकार के स्थायित्व में लोगों को अविश्वास हो जाता है। सरकार के सामने करेंसी का प्रश्न खड़ा हो जाता है। सरकार विछलनपूर्ण मार्ग पर बढ़ती है। आर्थिक और राजनीतिक संकट उपस्थित होते हैं, यह छिपा कर्ज है। यह सरकार द्वारा डकैती है। यह समता की नीति का उल्लंघन करता है। नैतिकता की दृष्टि से यह त्याज्य है। इससे सम्पत्ति का वितरण और भी विषम हो जाता है। कहने का मतलब यह है कि पत्र-मुद्रा-निर्माण के शस्त्र का उपयोग सतर्कता और चातुरी से होना चाहिए।

युद्ध चलाने के निमित्त सरकार को आर्थिक प्रसाधनों (Economic Resources) का भी नियमन-नियंत्रण करना पड़ता है। किसी देश की सरकार Treasury Bill की दर को तय कर सकती है। वह अपनी प्रतिभूतियों—Securities—के दाम निर्धारित कर सकती है। पूँजी-शेयरों के चालू करने और बाजार में बेचने के कार्यों पर अंकुश रखना या न रखना उसके हाथ की बात है। वह देश के बैंकों के कुल जमा—डिपोजिट्स—के ऊपर अपनी हुकूमत चला सकती है। बहुत देशों की सरकारों ने प्रथम महायुद्ध और

द्वितीय महायुद्ध में ऐसा ही किया। मौद्रिक नीति (Monetary Policy) के बारे में हम "मुद्राशास्त्र" में काफी लिख चुके हैं।

सरकार मुनाफाधिक्य तथा व्यावसायिक मुनाफा पर कर लगा सकती है, दूसरे देशों से लेन-देन का सट्टा-पट्टा कर सकती है, भारतवर्ष की तरह स्टरलिंग रिजर्व जमा कर सकती है, विक्रय या क्रय पर कर लगा सकती है। वह इन साधनों को युद्ध चलाने के उद्देश्य से अपना सकती है।

मूल्य-नियंत्रण युद्धकाल का एक लक्षण ही बन गया है। युद्धकाल में सरकार मजदूरी की नीति खुद बरतती है जिससे मजदूरी और उत्पादन-व्यय में लय या सामंजस्य रह सके और उद्योग-प्रणेताओं के कोष में समूचा मुनाफा न जा सके। वह रेशनिंग का सिलसिला जारी कर सकती है। विनिमय-नियंत्रण के द्वारा सरकार अपने देश की मुद्रा के मूल्य में दूसरे देशों की मुद्राओं के दृष्टिकोण में निश्चित या समयानुकूल परिवर्तित कर सकती है। इससे मुद्राओं के प्रचलन पर वश रहता है। भारतवर्ष की सरकार ने भी डॉलर-पूल (Doller Pool) का स्कीम कार्यान्वित किया था जिससे व्यापार के लेखा में गड़बड़ी न हो। नात्सी और फासिस्ट सरकारों ने तो कितने बेढंगे और जबरदस्ती ढंगों द्वारा धन चूसकर द्वितीय महायुद्ध को चलाया। उसकी याद ताजी ही है। युद्ध के कुप्रभावों का निराकरण करने के लिए चतुर और लोकप्रिय सरकारें सामाजिक सुरक्षा की योजनाएँ कार्यान्वित करती हैं जिससे युद्ध के कारण समाज की बढ़ी विषमता की मात्रा कम हो सके।

युद्ध चलाने के साधन ये ही हैं। अर्थशास्त्रज्ञों का कार्य उनका उल्लेख करना है। नीति तो शासकों को निर्धारित करनी है और वे उन्हें क्रियात्मक रूप देते समय उनमें कुछ हेर-फेर भी करने के लिए स्वतंत्र हैं।

विंशति अध्याय

सार्वजनिक ऋण के चुकाने की रीतियाँ

(Methods of the Redemption of Public Debt)

सार्वजनिक ऋण के चुकाने का अभिप्राय उसको वापस लौटाने से है। सरकार जितने ऋण लेती है उन सब पर सूद देती है। कुछ ही ऐसे ऋण रहते हैं जिन्हें कभी भी वापस नहीं किया जाता। जब ऋण लेने का ध्येय समाप्त हो जाय तो उसे शीघ्रातिशीघ्र लौटा देना उचित है। जितना ही बड़ा सार्वजनिक ऋण का बोझ होगा उतना ही बड़ा परिमाण उसके सूद का होगा। ऋण को रखे रहना और उसपर सूद देते जाना मुनासिब भी नहीं है, क्योंकि सूद की रकम का पूँजीकृत मूल्य ऋण की रकम के बराबर हो सकता है। इसलिए ऋण वापस कर देने से एक तो उससे भी मुक्ति मिल जाती है और उसके ऊपर सूद देने से भी। डाक्टर डाल्टन ने भी लिखा है "The analogy for the tax-payer is the choice between having an aching tooth out quickly (without gas) or letting it continue to ache." ! ठोस अर्थनीति से ही यह संभव है कि ज्योंही ऋण का उपयोग उत्पादक नहीं रह जाता त्योंही उसे चुका देना चाहिये। लेकिन ऋण को कैसे चुकाया जाय, यही एक जटिल प्रश्न है। जब तक किसी देश की सरकार को कोष-पत्र में अवशेष-कोष बचता नहीं तब तक वह अपनी सुनहली कोर की प्रतिभूतियों और ऋण-पत्रों को खरीद कर अपने कुल ऋण का समूल विघटन नहीं कर सकती और दायित्व से छुटकारा नहीं पा सकती। यह प्रश्न बड़ा पेचीदा है।

कोई भी सरकार अपनी बचत से अपने दायित्व को अदा करना नहीं चाहती और न ऐसे साधनों का सहारा ही लेती है। उसे अन्य साधनों का आश्रयण ग्रहण करना पड़ता है। नीचे हम इन्हीं साधनों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

सबसे लोकप्रिय साधन या रीति ऋण-परिशोध कोष (Sinking Fund) की स्थापना है। "Sink" एक चालू शब्द है। इसका संकेत 'चहबच्चे' से है। सरकार एक 'चहबच्चे' बनाती है और विशेष कर से प्राप्त आय को उसमें भरती जाती है और जब वह परिपूर्ण हो जाता है तब उससे अपने ऋण को चुका देती है। सरकार कर-वसूली की आयोजना इस ढंग से करती है कि उससे जो राजस्व मिलता है उसका कोष सार्वजनिक ऋण की रकम के बराबर उस समय तक हो सकता है जब ऋण को चुकाने की अवधि पूरी हो जाती है।

ऋण-परिशोध कोष को दो खंडों में विभाजित किया है—अनिश्चित (Indefinite or Indeterminate) और निश्चित (Definite)। अनिश्चितऋण-परिशोध कोष उस समय स्थापित होता है जब सरकार अपने ऋण को "अवशेष पत्रक" द्वारा चुकाने की कोशिश करती है, लेकिन यह बहुत-कुछ परिस्थिति के ऊपर (fortuitons) निर्भर करता है। निश्चित ऋ० प० कोष को अपनाये ढंग के आधार पर तीन वर्गों में बाँटा गया है :—(१) अवधि के विस्तारानुसार जिसमें सम्पूर्ण ऋण को वापस किया जाता है। (२) ऋ० प० कोष के वितरणानुसार (३) ऋण के विभिन्न रूपों में ऋ० प० कोष के भुगतानों के वितरणानुसार।

इंगलैंड में पीट के समय से ऋ० प० कोष की प्रथा शुरू हुई। इसका पुराना तरीका यही था कि ऋण के जीवन-काल में ही इतना राजस्व इकट्ठा कर लिया जाता था कि उससे ऋण की मियाद पूरने पर उसे चुका दिया जाता था। लेकिन ऋण के ऊपर जो सूद देना पड़ता था उसे प्रतिवर्ष देते चलने की परिपाटी थी। सूद सरकार के राजस्व

से दिया जाता था और ऋ० प० कोष एक नया कर लगाकर तैयार किया जाता था। लेकिन अब कुछ नया तरीका चल पड़ा है। कुछ रकम जो ऋण वापस करने के लिए आरंभ से ही अलग कर दिया जाता है। उस रकम से ऋण के कुछ अंश (मूलधन) को चुकती कर दिया जाता है। इससे उतने अंश पर आगे सूद देने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। फलत: मूलधन के परिमाण कमने के साथ सम्पूर्ण सूद का बोझ भी हल्का हो जाता है। एक नूमना और भी देखने में आता है। अब सरकार जो ऋ० प० कोष एकत्र करती है उसकी समूची रकम सार्वजनिक ऋण की सम्पूर्ण रकम के बराबर नहीं होती। यह सरल अंकगणित का विषय है। मान लीजिए किसी सरकार ने १० वर्षों के लिए १० करोड़ रुपए अपनी धनी-मानी प्रजा से उधार लिए हैं। उसके लिए प्रतिवर्ष धनी-मानों से १ करोड़ रुपया कर वसूली द्वारा प्राप्त करना चाहिए। इस तरह दश साल में १० करोड़ रुपए एकत्र हो जायेंगे। मगर ऐसी बात नहीं। पहले साल सरकार को १ करोड़ रुपया कर-वसूली में मिलेगा। लेकिन सरकार उस कोष को ऐसे काम में लगा सकती है जिससे उसपर कुछ सूद मिले और जो सूद मिलेगा वह भी मूलकोष में जोड़ दिया जायगा। दूसरे साल एक करोड़ रुपया मिलेगा। उसका भी विनियोग होगा। इसका परिणाम होगा कि दस साल के पूर्व ही सरकार के ऋ० प० कोष में १० करोड़ रुपए जमा हो जायेंगे। यह "चक्र वृद्धि सूद" के हिसाब से साफ-साफ मालूम हो जाता है।

डाल्टन ने ऋ० प० कोष स्थापित करने की नीति के तीन उद्देश्यों का वर्णन किया है —(१) मृतक-भार सार्वजनिक ऋण को (जिसके पीछे कोई सरकारी प्रनिधि (asset) नहीं) चुकाने के लिए। इससे "काल्पनिक पूँजी" को उन्मूलित करने में सहायता मिलती है। इससे पूँजी जो सार्वजनिक प्रतिभूतियों में लगी रहती है बाहर आ जाती है और व्यक्तिगत स्वामित्व में नई

पूँजीगत वस्तुओं की सृष्टि में लगती है। (२) खानगी हाथों में विद्यमान वास्तविक पूँजी को खरीदने के लिए—इससे व्यक्तिगत स्वामित्व से सार्वजनिक स्वामित्व में कुछ उद्योग-धंधे आ जाते हैं। (३) पहले से ही खुले सार्वजनिक उद्योगों में नये पूँजीगत समानों का निर्माण करने के लिये। इससे नई सार्वजनिक प्रणिधियों में कोष प्रत्यक्ष रूप से लगता है। यदि नए पूँजी-विनियोग के लिए यथेष्ट सुयोग हों तो इन उद्देश्यों से नया पूँजी-व्यय होगा और उससे बचत को प्रोत्साहन मिलेगा।

अब ऋ० प० कोष की खूबियों के ऊपर विचार करें। अगर ऋ० प० कोष कर-वसूली के सहारे कायम किया जाता है तो उससे समाज की बचतें बढ़ती हैं। "The operation of a Sinking Fund for debt-reduction fed from the taxation increases saving" (Dalton) कर लगाने पर जो कोष मिलता है उसका एक विशिष्ट भाग ही संचित किया जाता है लेकिन ऋण चुकाने के बाद जितना कोष मुक्त होता है वह समूचा कोष ही फिर से किसी उद्योग में लगा दिया जाता है। अगर ऋ० प० कोष-नीति को पूरे उत्साह के साथ कार्यान्वित किया जाय तो इसके लिये भारी कर-वसूली की जरूरत पड़ेगी।

ऋ० प० कोष की नीति बहुत ही सम्बद्ध नीति है और किसी खास ऋण की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसे अभियोजित (adjust) किया जा सकता है। इसका यह गुण भी है कि यह गैर आवर्त्तक व्यय को आवर्त्तक व्यय में रूपान्तरित कर देती है। गैर आवर्त्तक व्यय को ऋण लेकर तथा आवर्त्तक व्यय को कर लगाकर पूरा किया जाता है। ऋ० प० कोष को कर लगाकर तो तैयार करते हैं और उसको क्रमशः उत्पादक काम में खर्च करते हैं। अच्छी अर्थनीति वही है जो किसी योजना के बोझ को वह जितने वर्षों तक चलनेवाली है उतने वर्षों में प्रसारित कर देती है और ज्योंही

यह योजना उत्पादक नहीं रह जाती ऋण को वापस कर देती है। यह ठोस और उत्कृष्ट अर्थनीति ऋ० प० कोष द्वारा पूर्णतया परिलक्षित होती है।

ऋ० प० कोष की नीति अवक्षयण या पुनर्निमाण कोष-नीति (Depreciation fund policy) से उत्तमतर होती है। यह इस तरह मान लीजिए किसी सरकार ने १० करोड़ रुपए १० वर्षों के सार्वजनिक ऋण में लिए हैं और उसने कोई व्यवसाय उस कोष से शुरू किया है। उस व्यवसाय से जो आमदनी प्रति वर्ष होती है उसमें से १ करोड़ रुपया निकाल कर अलग रख देना होगा जिससे १० वर्षों के बाद ऋण अदा किया जा सके। इस तरह दस वर्षों में सारा ऋण चुकाया जा सकता है। लेकिन इस नीति की सीमाएँ (Limitations) हैं। पहली बात तो यह है कि इस नीति को हर हालत में अपनाया नहीं जा सकता। दूसरी बात, अगर इसे अपनाया भी गया तो यह जरूरी नहीं है कि उससे जो आय प्रति वर्ष मिले वह समान हो और उससे हर साल एक करोड़ रुपया अलग रखा जा सके। किसी-किसी साल उस उद्योग में भारी नुकसान भी हो सकता है। तीसरी बात, अगर वह उद्योग वस्तु या सेवा की पूर्ति करता है, जिसके बदले में सरकार दाम नहीं लेती है, तब तो इस नीति की कल्पना सपने में भी नहीं की जा सकती। इन्हीं कारणों से ऋ० प० कोष की नीति अच्छी है।

ऋ० प० कोष को कर-वसूली द्वारा ही स्थापित किया जाना चाहिये, सार्वजनिक ऋण लेकर नहीं। "A Sinking Fund which is fed, not from revenue but from new borrowing's, is not a true Sinking Fund"। क्योंकि उस दशा में तो ऋण को चुकाने का तो कोई काम सम्पन्न नहीं हो रहा है, बल्कि ऋणों के बदले नए ऋण लिए जा रहे हैं।

फिर ऋ० प० कोष की नीति को सशक्त होना चाहिये, उसमें

पूरी गति रहनी चाहिये। † अगर ऋ० प० कोष को कायम करने की चाल धीमी है तो उसको कायम करने में बहुत समय लगेगा और इससे उत्पादन को भारी धक्का पहुँच सकता है। इससे सार्वजनिक व्यय पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। अगर इसकी गति तेज हुई तो प्रतिकूल प्रभाव की मात्रा कम होगी। जिस देश में पहले से ही भारी बोझवाली कर-नीति लागू है उस देश में ऋ० प० कोष को कायम करने में बहुत समय लगा है। वहाँ भारी कर लगाने से यह आशंका रहती कि वह व्यावसायिक जगत में काफी भय फैला दे, कई उद्योगों को विनष्ट कर दे और शासन-कार्य को भी असंभव बना दे। इसलिए एक अर्थशास्त्री ने लिखा है—"The greater productiveness of industry and the greater well-being of the community are the real "Sinking fund" which a wise government should exert itself to build up and to encourage and this will be best done by giving all that freedom to industry that is consistent with right and justice"। दूसरी आशंका यह है कि ऋ० प० कोष के रहने पर किसी देश के अर्थ-मंत्री को देश पर किसी आपत्ति के आने पर इस बात की लालच हो सकती है कि वह उस कोष को ही खर्च कर डाले। तब सार्वजनिक ऋण को चुकाने की बात ताखे पर रख दी जायगी। डाल्टन ने भी लिखा है "The temptation to the politicians of "raiding the sinking fund" is a historic

---

† "A given sum spent on debt-redemption over a period of years on this principle (the state should buy up its own securities on a large scale when interest rates are relatively high and the price of its securities, therefore, low) will, therefore, reduce more debt than if it were spread evenly over good and bad years." (J. E. Meade)

pastime"। इसलिए ऋ० प० कोष के जमा होने साथ ही सार्व-जनिक ऋण को चुकाते आना चाहिए। †

ऋण को चुकाने की दूसरी रीति पूँजी से उगाही या पूँजी-कर, (Capital Levy) की है। प्रथम विश्वयुद्ध से इसकी परिपाटी चल पड़ी। इसके अनुसार बराबर (कई सालों तक) कर लगाते रहने की अपेक्षा यह अच्छा है कि पूँजी पर एक ही बार एक कर लगाया जाय और उसकी आमदनी से सभी ऋण को एक ही बार चुका दिया जाय। पूँजी-उगाही भारी होती है और उसे कोई अपनी आमदनी से नहीं दे सकता। उसे बरबस अपनी पूँजी से देना होगा। देश की आय और सम्पत्ति की न्यूनतम सतह को पहले तय कर लिया जायगा और उस सतह तक की आय एवं सम्पत्तिवालों के ऊपर "पूँजी से उगाही" नहीं लगाई जायगी, लेकिन उस सतह से ऊपर की आय एवं सम्पत्ति वालों के ऊपर उसे लगाया जायगा। फिर, जैसे-जैसे लोगों की आय एवं सम्पत्ति की-मात्रा ज्यादा होगी वैसे-वैसे उनलोगों पर क्रमशः अधिक (Graduated) या प्रगतिशील (Progressive) दर से "पूँजी से उगाही" लगाई जायगी।

"पूँजी उगाही" को "विशेष उगाही" (Special Levy) भी कहा जाता है। यह पूर्वानुमानित मृत्यु-कर (Articipated Death Duty) की भाँति है। डा० डाल्टन ने इसकी परिभाषा

---

† लॉर्ड केन्स ने अपनी पुस्तक "General Theory" में अत्यधिक ऋ० प० कोष की भर्त्सना बेकारी बढ़ाने और रोजी घटाने के कारण की है।

"An amount of Sinking funds has been set up with the result that if private individuals were ready to spend the whole of their net incomes it would be a severe task to restore full employment. It would aggravate the problem of unemployment......Sinking funds represent a species of corporate saving, so that a policy of substantial sinking funds must be regarded in given circumstances as reducing the propensity to consume, ie causing a severe contraction of effective demand, and vice versa." (Lord Keynes)

करते हुए लिखा है, 'पूँजी से उगाही के अनुसार एक निश्चित परिमाण की जायदाद वाला प्रत्येक व्यक्ति मारा हुआ मान लिया जायगा और दूसरे दिन अपनी जायदाद पर कर देने के बाद वह उस जायदाद के उत्तराधिकारी के रूप में फिर जीवित हो जायगा।" सार्वजनिक ऋण को यथासंभव पहले चुकाने के लिए "पूँजी से उगाही" दो या तीन वर्षों तक ही लगानी चाहिये, उसके बाद नहीं लगानी चाहिये, क्योंकि इससे काफी क्षति हो सकती है।

अब हमें यह विचार करना है कि "पूँजी से उगाही" के पक्ष में कौन-कौन तर्क दिए जा सकते हैं। सबसे पहला तर्क तो यह है कि जिस तरह युद्ध-काल में नौजवान गरीब लोगों ने अपनी जान दी थी, कितने अपंग हो गये, उसी तरह यह जरूरी है कि धनी लोगों को भी अपनी "युद्ध जनित सम्पत्ति" ("war wealth") पर कर देना चाहिए और उसे लाभदायी स्रोत में विनियोजित नहीं करना चाहिये। यह इंगलैंड की लेबर पार्टी' के घोषणा-पत्र का अंश है। "पूँजी से उगाही" के पक्ष में दूसरा तर्क डाल्टन के शब्दों में ही सुनिए—इससे केवल बोझों का उन्मूलन ही नहीं होगा और समाज को खालिस लाभ ही नहीं पहुँचेगा, बल्कि नौजवान, मिहनती और आनेवाले व्यक्तियों के कंधों से, जिनके ऊपर कर का भार है, जो अभी शिक्षा, आदि के सुयोगों के अभाव से दबे हुए हैं, कुछ भार हटकर बूढ़ों, आरामतलबी और पहले से जमे व्यक्तियों के कंधों पर पड़ेगा और कहना नहीं होगा कि ऐसे लोगों में "पूँजी से उगाही" के देने वाले बहुत मिलेंगे।' तीसरी बात—सार्वजनिक ऋण महँगी के समय लिया जाता है। जबतक उसे चुकाया नहीं जाता तबतक उसपर सूद देना पड़ता है। एक तरह से समाज के ऊपर स्थायी भार बन जाता है। अगर महँगी के रहते-रहते ही ऋण वापस नहीं किया गया तो मन्दी आने से उसका भार बहुत बढ़ जायगा। इसीलिए कहा जाता है कि संकट के खत्म होते-होते ही पूँजी के ऊपर भारी कर लगाकर ऋण को वापस कर देना चाहिये। यह

बात आम समझ की है। किसी मुर्गी-को बार-बार जब्वे करने से एक ही बार उसे जब्वे कर डालना अच्छा होता है ! उसी तरह ऋण से मुक्ति पाने के लिए कई बार कर लगाने की अपेक्षा एक ही बार कर लगा देना अच्छा है। पाँचवी बात, अगर पूँजी से उगाही करते समय क्रमिकता (graduation) का ख्याल रखा गया तो इससे धनिकों को न्यूनतम सामूहिक त्याग भी करना पड़ेगा। कहा भी गया है कि मृत्यु-कर और विशेष कर (Sur Tax) का ही दूसरा रूप "पूँजी से उगाही" है। प्रो० पीगू ने पूँजी से उगाही के पक्ष में लिखा है, "यह एक ही बार लगाई जाती है। हमें हर साल लोगों से कर लेना नहीं पड़ता। यह आवृत्ति की अपेक्षा भी नहीं करती। इससे सरकार को भी कम तकलीफ उठानी पड़ती है और सर्वसाधारण भी छुटकारा की साँसें लेते हैं। अन्तिम तर्क यह है कि मन्दी आते ही लोग जितना बचाना चाहिए उससे अधिक आमदनी बचाते हैं और वर्तमान की कुछ आमदनी भविष्य में चली जाती है। यह ठीक नहीं है। "पूँजी से उगाही" से यह संभव हो पाता है कि भविष्य के लिए रखी आय को वर्तमान की आय में लाया जा सके, हस्तान्तरित किया जा सके।

इतना होने पर भी "पूँजी से उगाही" के विरुद्ध में तर्क दिए जाते हैं। इसका विरोध करनेवाले यह वितर्क देते हैं कि जिस तरह गरीब लोग अपनी जान देकर त्याग करते हैं उसी तरह धनी लोग भी सार्वजनिक ऋण देकर त्याग करते हैं। लेकिन वे गरीबों के वास्तविक(Real) त्याग को धनिकों के अनार्जित सम्पत्ति के कुछ मौद्रिक (Money) त्याग के साथ समान स्तर पर रखना चाहते हैं, यह ठीक नहीं है। इस प्रयास से उनका दोष स्पष्ट हो जाता है। कुछ दूसरे लोग यह आशंका प्रकट करते हैं कि पूँजी से उगाही रकम को ऋण चुकाने में खर्च नहीं करके दूसरे मकसद में भी खर्च किया जा सकता है। लेकिन यह भी टिकाऊ आशंका नहीं। जल्दी से उगाही रकम से सार्वजनिक ऋण चुका दिया जा सकता है। तीसरी बात जो इसके विरुद्ध कही जाती

है, वह जरा गंभीर है। वह यह है—'पूँजी से उगाही' होने पर उपभोग्य (consumable) आमदनी भविष्य से वर्तमान काल में हस्तान्तरित होती है और यह उगाही पूँजी से दी जाती है, लेकिन पूँजी भी तो आयों की बचतों से ही बनती है और पूँजी आयों की जननी भी है। नतीजा यह होता है कि लोगों की बचतें कम हो जाती हैं और वे भविष्य में कम उपभोग कर सकते हैं। कुछ हद तक यह तर्क ठीक है। मगर इसके भाष्यकर्त्ताओं को यह भी सोचना चाहिये कि पूँजी से उगाही होने के बाद सार्वजनिक ऋण वापस हो जाने पर यह नौबत आने नहीं पाती। यह भी कहा जाता है कि यह भेदात्मक है। यह मितव्ययी (Thrifty) लोगों से वसूल की जाती है। ये लोग बहुत किफायतशारी से जीवन व्यतीत करते हैं और धन-संग्रह करते हैं। दूसरी ओर, यह उनलोगों पर नहीं लगाई जाती है जो लोग फिजूल खर्ची से रहते हैं और कुछ धन जमाकर नहीं रखते। ये लोग यह भी कह डालते हैं कि वर्तमान परिस्थिति में मितव्ययी लोगों को प्रोत्साहन देने की जरुरत है जिससे आर्थिक विकास हो सके। लेकिन लार्ड केन्स कहते हैं कि मितव्ययिता से समाज का कोई उपकार नहीं होता, इससे उल्टे नुकसान ही पहुँचता है ! "In contemporary conditions the growth of wealth, so far from being dependent on the abstinence of the rich as is commonly supposed, is more likely to be impeded by it"। पूँजी से उगाही में एक और खतरा है जिससे यह पक्षपातपूर्ण बन जा सकती है। यह जायदादवालों पर ही लगाई जाती है। तब वह आदमी, जिसके पास कोई स्थायी पूँजी अर्थात् जायदाद नहीं है लेकिन जिसे आमदनी बहुत होती है, पूँजी से उगाही देने से बच जायगा। उचित तो यही है इस बड़ी आयवाले पर "पूँजी से उगाही" लगाई जाय। इस तरह आय को आधार चुना जाय या पूँजी को, यही एक जटिल प्रश्न है और चूँकि पूँजी पर ही यह

उगाही सामान्यतया लगाई जाती है इसलिए यह अवांछनीय भी है, क्योंकि यह भेदात्मक नीति है। पूँजी का मूल्यांकन करना भी खेल नहीं। फिर, एक बार पूँजी पर उगाही लगा देने के बाद क्या गारन्टी है कि सरकार फिर दूसरी उगाही नहीं लगाएगी। इस आशंका का बुरा प्रभाव समाज की उत्पादकता और संग्रहात्मक वृत्ति पर पड़ सकता है। फिन्डले शीराज ने लिखा भी है, "The shadow of uncertain levies discourages the accumulation of capital and industrial expansion is hindered"। फिन्डले शीराज ने "पूँजी उगाही" के प्रतिकूल कुछ और तर्क पेश किए हैं—वे ये हैं—(१) इससे साख में अपस्फीति शुरु होगी और अन्ततोगत्वा इससे मजदूरी और कीमतों की दरें घट जायेगी। (२) इसके कारण विदेश से पूँजी का आना रुकने लगेगा और किसी भी संगठित बाजार को तथा उद्योग एवं वाणिज्य को इससे आघात पहुँच सकता है। (३) 'पूँजी से उगाही' में काफी खर्च करना पड़ता है। यह "मितव्ययिता के सिद्धान्त" के प्रतिकूल है।

इन खामियों के बावजूद भी "पूँजी से उगाही" सार्वजनिक ऋण को चुकाने का एक लोकप्रिय तरीका है और ऋण परिशोध कोष के बाद इसका ही स्थान है।

सार्वजनिक ऋण को चुकाने का तीसरा साधन "ऋण-रूपान्तर-करण" (Conversion of Debt) है। लेकिन ऋण-रूपान्तर-करण करना ऋण को अदा करना नहीं है। यह पुराने ऋणों के बदले नए ऋणों को लेने का एक जरिया है। सरकार देखती है कि संकट काल के बाद मुद्रा-बाजार में मन्दी आ जाती है; सूद की दरें प्रवेग से गिरती जाती हैं। उसने जो ऋण लिए हैं उनकी दर अधिक है और इसमें उसको घाटा है। सरकार ऋणदाताओं को आदेश देती है कि वे अपने पुराने ऋणों को नए ऋणों में बदला जायँ और जब वे बदलाने आते हैं तब उन्हें अधिक सूद के बदले कम सूद पर ऋणों

को कर देना पड़ता है। सरकार के सामने दो सूरतें हैं—एक तो यह कि सरकार नए ऋण-पत्रों पर बट्टा (Discount) दे सकती है। इससे यह होता है कि वह उनपर कम सूद दे सकती है। सरकार को बुद्धिमत्तापूर्वक बाजार के रूख को देखकर दोनों में से किसी एक सूरत को अपनाना होगा। आम तौर से सरकार सूद की दर बाजार की सूद-दर से कुछ कम रखती है। अगर सरकार अपनी सूद-दर को बाजार की सूद-दर से कुछ अधिक रखे तो उसका बड़ा अनुकूल प्रभाव ऋण दाताओं पर पड़ेगा और वे पुराने ऋण को जल्दी से नए ऋण में परिवर्तित करा लेंगे।

ऋण रूपान्तरकरण से यह फायदा है कि सरकार को पहले जितना सूद देना पड़ता था उतना उसके बाद नहीं देना पड़ेगा और इससे उसका बोझ हल्का हो जायगा। लेकिन इस साधन की कुछ परिसीमाएँ हैं जिनपर यहां विचार करना अच्छा होगा। पहली चीज तो यह है कि अगर ऋण-रूपान्तरकरण के फलस्वरूप सरकारी प्रतिभूतियों तथा ऋण-पत्रों के क्रेताओं को पहले से कम सूद मिले और उनकी आय कम हो जाय तो आगे चलकर वे आय-कर तथा विशेष-कर में कम रकम दे सकेंगे और इससे सरकार का राजस्व कम हो जासकता है। लेकिन यह कोई जोरदार तर्क नहीं। दूसरी बात यह है कि एक ही देश में कई स्थानीय सरकारें होती हैं वे भी अपनी प्रतिभूतियाँ चलाती हैं। ऐसा हो सकता है कि उनकी दरों और कीमतों तथा केन्द्रीय सरकार की प्रतिभूतियों की दर और कीमत में असमान उल्ट-फेर हो। इससे काफी गड़बड़ी फैल सकती है। तीसरी बात, रूपान्तर-करण की योजना उसी समय फलवती हो सकती है जब सूद की दर में कोई भारी कमी नहीं हो। फिर, रूपान्तरकरण से सार्वजनिक ऋण की मूल रकम में तो कोई कमी नहीं होती है। वह तो ज्यों-की-त्यों रह जाती है।

इन आशंकाओं को दूर करने के लिए सरकार को कुछ खास बातों पर ध्यान रखना होगा। सबसे पहली बात तो यह है कि

सरकार को सार्वजनिक ऋण के समूचे बोझ का अनुमान कर लेना चाहिए। इसके लिए कई साधन संभव हैं—(१) प्रति व्यक्ति ऋण को कूतना—इसके लिए जन-संख्या की वृद्धि, सम्पत्ति के विकास, सार्वजनिक प्रणिधि (assets) का ख्याल प्रति वर्ष की दृष्टि से करना होगा। (२) राष्ट्रीय आय के लगाव में वार्षिक ऋण-दायित्वों के आधार पर भी सार्वजनिक ऋण-भार का हिसाब लगाया जा सकता है। (३) सार्वजनिक ऋण पर वार्षिक राजकीय व्यय के अनुपात के आधार पर भी इस भार का अन्दाजा लगाया जा सकता है। (४) ऋणों के वास्तविक या बाजारगत मूल्य को निकालकर (५) लेकिन अग्रलिखित दोनों साधनों को समन्वित करके जब ऋण भार को निकाला जाता है तब अधिक ठीक हिसाब होता है—(अ) राष्ट्रीय सम्पत्ति और आय के साथ राष्ट्रीयकरण का अनुपात क्या है (ब) सम्पूर्ण सामान्य व्यय का कितना प्रतिशत ऋण पर खर्च होता है।

दूसरी बात जिस पर सरकार को ध्यान देना है वह यह है कि अगर ऋण लघुकालीन (unfunded) हैं तब तो सूद की दर में कमी कर देने से ही सारा काम बन जायगा। तीसरी बात—अर्थ-मंत्री को मुद्रा-बाजार पर अनवरत दृष्टि रखनी होगी जिससे वह सूद की दरों, करों तथा दामों की गतिविधि से वाकिफ हो सके और यह तय कर सके कि कौन-सा साधन अपनाना सबसे अधिक लाभ पहुँचानेवाला होगा। बड़े-बड़े ऋणदाताओं को भी—जैसे बैंक, बीमा की कम्पनियाँ, आदि-सूद की अल्पकालीन और दीर्घकालीन-दरों की प्रवृत्तियों के ऊपर सोचना-विचारना चाहिए और रूपान्तर-करण करते वक्त मूलधन को तो कभी भी नहीं बढ़ाना चाहिए और रूपान्तरकरण का ढंग भी यथासंभव सीधा होना चाहिए। पांचवीं बात—सरकार को कम दर पर रूपान्तरकरण करते समय अपने ऋणदाताओं को यह आश्वासन देना चाहिए कि दूसरी बार कोई रूपान्तरकरण नहीं होगा। अन्तिम शोचनीय बात यह है कि विभिन्न

ऋणों को विभिन्न रूप-दरों पर रखने की अपेक्षा एक अनुरूप सूद-दर पर सम्पूर्ण ऋण को रूपान्तरित कर देना उत्तम है।

चौथा साधन सार्वजनिक ऋण का विघटन (Repudiation) है। इसके अनुसार सरकार सार्वजनिक ऋण को कबूल नहीं करती और उसको चुकाने के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानती। वह एक घोषणा कर देती है कि वह लिए ऋण को वापस करने नहीं जा रही है। कभी-कभी पुरानी सरकार के भंग होने पर नई सरकार पुरानी सरकार द्वारा लिए सार्वजनिक ऋण को नहीं मानती। विदेशों से लिए ऋण को भी कोई-कोई सरकार नहीं देने का विचार प्रकट करती है। सन् १९१७ के बाद जब सोवियत रूस में नई सरकार बनी तब उसने पुरानी सरकार द्वारा लिए विदेशी ऋणों को देने से इन्कार कर दिया, लेकिन इसके लिए उसे उन देशों के बड़े विरोध का सामना करना पड़ा। देशी ऋण का विघटन करना खतरे से जितना भरा है उससे बहुत अधिक खतरा विदेशी ऋण के विघटन करने में है। लेकिन इतिहास इस बात की गवाही देता है कि कुछ बार परिस्थितियों ने साथ दिया है जिसके फलस्वरूप बहुत-सी सरकारों ने अपने विदेशी ऋणों के दायित्व से अपने को मुक्त बना लिया है। चर्चिल ने भी भारतवर्ष के स्टरलिंग पावना को वापस नहीं करने या कम अंश में वापस करने की सलाह दी थी लेकिन वह ग्रेट ब्रिटेन की मजदूर-दलीय सरकार को कदापि मंजूर नहीं हुई।

लेकिन इस साधन के कई अवगुण हैं। पहला अवगुण तो यह है कि यह साधन पक्षपातपूर्ण और भेदात्मक है। सरकार उस श्रेणी के लोगों के पैसे वापस करने से इनकार कर देती है जिस श्रेणी के लोगों ने सरकार की प्रतिभूतियों और ऋण-पत्रों में अपनी पूँजी लगाई है। साथ-ही-साथ सरकार दूसरी श्रेणी के लोगों को छूट दे देती है जिन्होंने सरकार को पूँजी नहीं दी। इस तरह के अन्याय से एक श्रेणी का दूसरी श्रेणी के लगाव में जो आर्थिक सम्मान है वह बिगड़ जाता है। ऋण-विघटन की रीति एक सामाजिक क्रान्ति

ही है। सरकार इससे अपनी इज्जत व साख खो सकती है और भविष्य में लोग सीधे मन से उसके ऋण-पत्रों को नहीं खरीद सकते हैं। डाल्टन ने लिखा भी है—"Repudiatian sounds provocative, wilful and unnecessary"। लेकिन अगर ऋण-विघटन की तिथि और नए ऋण लेने की तिथि में काफी कालान्तर (Time-gap) है तो सरकार को सफलता मिल भी सकती, क्योंकि इस अभ्यन्तर में वह अपनी प्रजा की सद्भावना पर पुनर्विजय प्राप्त कर सकती है।

कुछ सरकारें प्रत्यक्ष रूप से ऋण-विघटन नहीं करके गुप्त ढंग से, छद्म रूप से ऋण-विघटन करती हैं। वे मुद्रा-स्फीति की अवधि को संकट के बाद भी बढ़ा देती है जिससे मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है और सार्वजनिक ऋण का बोझ भी उसी अनुपात में घट जाता है। लेकिन शान्तचित्त से विचार करने पर ज्ञात होगा कि यह ऋण-विघटन का आंशिक रूप मात्र है। इसे ऋण-विघटन का पूरा शीर्षक नहीं दे सकते।

सार्वजनिक ऋण को चुकाने के लिये सरकार अन्य दो ढंगों का आश्रय ले सकती है। वे ढंग ये हैं—(१) सरकार बाजार में अपनी प्रतिभूतियों और ऋणपत्रों को मोल ले सकती है। यह तभी संभव है जब उसके पत्रक में बचत हो। (२) वह कर्ज देनेवालों को वार्षिकी (Annuity) दे सकती है। इनकी मियाद ऋण की मियाद के बराबर होगी, लेकिन इस रीति से सरकार की अर्थ-व्यवस्था के ऊपर काफी तनाव पड़ेगा। उतना तनाव प्रतिवर्ष सूद देने से नहीं पड़ता।

इस अध्याय को समाप्त करने के पूर्व हमें सरकार-सरकार (अन्तः सरकारी) ऋणों के भुगतान की समस्या के ऊपर दृष्टिपात कर लेना चाहिये। जब कोई सरकार किसी दूसरी सरकार से कर्ज लेती है तब उसे उसको अवधि की समाप्ति पर लौटाना पड़ता है। वह प्रतिवर्ष कर्ज पर सूद देती जा सकती है। इस तरह सरकार-

सरकार के बीच ऋण का जो आदान-प्रदान होता है उसकी रूप-रेखा, उसकी गति एकतरफा (Unilateral) होती है। ऋणी सरकार विदेशी सरकार को ऋण वापस करने के लिये अपनी प्रजा पर कर लगा सकती है या वह मुद्रा-स्फीति का आश्रय ग्रहण कर सकती है। चाहे वह जो भी तरीका अख्तियार करे उससे स्वदेशी लोगों की वास्तविक आय घट जाती है। स्वदेश के उद्योगों में सुस्ती आ सकती है, उनका ह्रास आरंभ हो सकता है। उनमें पहले की तुलना में कम उत्पादन हो सकता है। इससे गरीबों पर बड़ा बुरा (Regressive) प्रभाव पड़ता है। उनकी वास्तविक आय बहुत घट जाती है। इस प्रकार के प्रभाव को प्राथमिक प्रभाव (Primary Effect) कहा जाता है। इसके बाद स्वदेशी मुद्रा को विदेशी मुद्रा में परिवर्तित करने का झमेला खड़ा होता है। यही "हस्तान्तरण का संकट" (Transfer Crisis) कहलाता है। यदि सरकारी कोष में विदेशी मुद्रा रही (सरकार विदेशी मुद्राओं के कोष-Pools-खोलती है जिनमें वे एकत्र होती हैं) तो उसके द्वारा आसानी से ऋणत्व को चुकाया जा सकता है। लेकिन सरकार के पास पर्याप्त विदेशी मुद्रा रहती नहीं। अतएव उसे विदेशी सरकार को वस्तुओं और सेवाओं (दृश्य-अदृश्य) के रूप में भुगतान करना पड़ता है। इसके लिये स्वदेश के निर्यात-उद्योगों (Export Industries) के उत्पादन को प्रसारित करना पड़ता है। लेकिन जब तक उनमें तैयार होनेवाली वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों को कम नहीं किया जाता तब तक विदेशी सरकार उनको लेने से इन्कार कर सकती है। लेकिन कीमतों का घटना या न घटना और उनकी कमी की मात्रा—ये दोनों बातें उनके लिये जो विदेशी माँग है उसकी लोच के ऊपर निर्भर करेगा। साधारणतया स्वदेशी सरकार का पलड़ा हल्का रहता है और व्यापार की शर्तें उसके विपक्ष में हो जाती हैं। फिर, अगर स्वदेश की माँग विदेश की वस्तुओं और सेवाओं (दृश्य तथा अदृश्य) के लिये कम लोचपूर्ण है तब तो व्यापार की शर्तें

स्वदेश के बहुत खिलाफ हो जायेंगी और विदेशी सरकार को ज्यादा परिमाण में अपनी वस्तुओं और सेवाओं का निर्यात करना होगा। इसे "हस्तान्तरण-जन्य क्षति" (Transfer Loss) कहते हैं। यह समस्या का एक पहलू है।

लेकिन उसका दूसरा पहलू भी है। विदेशी सरकार को ऋण तथा सूद वापस मिलता है। इससे उसकी धनी प्रजा की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है। हिसाब-किताब के लेखा (Balance of Accounts) के संतुलित होने के लिये यह अनिवार्य है कि वह सरकार अपने निर्यात को भी बढ़ावे, क्योंकि आयात बहुत हो रहा है और निर्यात बढ़ाने के सिलसिले में उसे कुछ क्रय-शक्ति को बाहर लगाना होगा। इससे वह अपने ऋणी देश से अधिक वस्तुओं और सेवाओं की माँग कर सकती है। जिस मात्रा तक विदेशी सरकार क्रय-शक्ति खर्च करती है उस मात्रा तक स्वदेश को फायदा होगा। इससे ऐसा भी हो सकता है कि स्वदेश की सरकार को अपनी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें कम नहीं करनी पड़े। उस स्थिति में व्यापार की शर्तें उसके प्रतिकूल नहीं हो सकती हैं।

लेकिन इस पहलू की कुछ त्रुटियाँ हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में स्वदेशी सरकार के प्रतिद्वन्द्वी हो सकते हैं और विदेशी सरकार उनसे भी उन चीजों को मोल ले सकती है। दूसरी बात यह है कि विदेशी सरकार आयात पर चुंगी लगा सकती है जिससे कि चुंगी का भार स्वदेश की सरकार पर पड़े। तीसरी बात, वह स्वदेश से आती हुई क्रय-शक्ति को निष्प्रभाव (Freeze) कर सकती है।

सरकार-सरकार के बीच ऋण तथा सूद के आदान-प्रदान होते समय उचित तो यही है कि ऋणदाता को अधिक आयात (import surplus) के लिए तथा ऋणी देश को अधिक निर्यात (export surplus) के लिए तैयार रहना चाहिये। लेकिन इसमें भी पचड़ा है। अगर ऋण दाता देश अधिक आयात को स्वीकार करता है तो इससे उसके आयात-उद्योगों में कुछ बेकारी फैल सकती है और

उसमें लगे लोगों की मुद्रागत आय घट जा सकती है लेकिन यह बात ऋणी देश के लिए भी तो सत्य है क्योंकि उसके निर्यात-उद्योगों में बेकारी फैल सकती है और उसमें लगे लोगों की मुद्रागत आय घट जा सकती है। दोनों देश आदान-प्रदान को स्थगित कर सकते हैं। लेकिन इसमें बड़ी जोखिम है। इससे आर्थिक अस्थिरता बढ़ सकती है। अपना ऋण और सूद वापस लेने के कार्य को स्थगित करना बेसूझ का कार्य है। डाल्टन ने लिखा है—"This argument conflicts with the commonsense view and that to obtain something for nothing is an economic gain, and that to part with something for nothing is an economic loss"। ऋणदाता देश के लिए तो पौबारह है। उसके लिए तो विश्व-युद्ध ी मितव्ययिता का एक सुन्दर स्वर्गलोक (a beautiful idyll of thrift) लाभदायी विनियोग का एक महान् कार्य, आय का एक निश्चित उत्स जान पड़ सकता है। ऋणदाता देश "विष्णु का स्वर्णिम मूर्त्तरूप" है। अमेरिका के बारे में डाल्टन की उक्ति बेजोड़ है—"Indeed the American Vishnu sits in this Vision, like a golden weight upon all the world, smiling gold stoppings at the figure of Hope"। †

† "Other countries for their 'Survival' have to tie themselves to the apronstringe of Uncle Sam. America stands like a Colossus across the world scene."

—(-o-❀-o-)—

BIBLIOGRAPHY.

1. Dalton—Principles of Public Finance.
2. Do —Unbalanced Budgets.
3. Ursula Hicks—Public Finance.
4. J. R. Hicks–Problem of Budgetary Reform
5. Bastable—Public Finance.
6. Seligman—Significance And Incidence of Taxation.
7. Do —Essays on Taxation.
8. Stamp—Fundamental Principles of Taxation.
9. Pigou—A Study in Public Finance.
10. Shirras—Public Finance.
11. Black—Incidence of Income-Tax.
12. De Viti:—First Principles of Public Finance.
13. Robinson—Publíc Finance.
14. Lutz—Public Finance.
15. Hansen–Monetary theory And Fiscal Policy
16. Groves—Doubtful Spots of Public Taxation.
17. Do —Studies in Public Finance. (Collection)
18. Allen and Brownie—Economics of Public Finance.
19. Buheler—Public Finance.
20. Moulton–Financial Organisation And Economic System.

21. Meade—Economic Analysis And Policy.
22. Keynes—General Theory.
23. Do —How to Pay for the War ?
24. Withers—International Finance.
25. Rangaswami—Ancient Indian Economic Thought.
26. Indian Journal of Economics—(Issues of)
27. London Journal of Economics— (Do).
28. B. R. Misra—Indian Provincial Finance.
29. Do —Death Duties.
30. Balkrishana—Madras Provincial Finance.
31. Sharma—Public Finance.
32. Mehta & Agrawala—Public Finance.
33. Gadgil—Outline of Economic Theory.
34. Dewett & Akhtar-Modern Economic Theory.
35. Gadgil & Vithal Babu—Studies in Death Duties.
36. Das Gupta— Provincial Taxation under Autonomy.
37. Benham—Economics.
38. K. N. Pd.—Modern Economics. (Theoretical Aspect)
39. Do —Money & Banking.
40. A. Smith—Wealth of Nations.
41. Kalecki—Economics of Full Employment in a Free Society.
43. Prof. Gorakhnath Sinha, B. A. (cantab.) His masterly articles in the Searchlight, Patna.

44. Teachings of the great thinkers of the Political Economy.
45. J. S. Mill—Political Economy.
46. Adarkar— Federal Finance.
47. Evidence of the Association of British Chambers of Commerce Before Colwyn Committee.
48. Harris—The National Debt and the New Economics.
49. Moulton—The New Philosophy of Public Debt.
50. Lerner—Economics of Control.
51. L. O. N.—Publication on Double Taxation And Tax Evasion.
52. Dr. Gyanchand—Local Finance.

"Social Framework" और प्रो० पीगू के "Income" ग्रन्थ से लेकर प्रो० बॉलडिङ्ग के "Economic Analysis" और प्रो० स्टीगलर के "Theory of Price" की विशद चर्चा ७५० पृष्ठों तथा ६० रेखा-चित्रों को इस अतीव सुन्दर सजिल्द पुस्तक में आप पायेंगे। पुस्तक ताजी पाव-रोटी की तरह बिक रही है। अभी मोल नहीं लेने से पीछे निराश हो कुछ समय के लिए ठहरना पड़ेगा। जिन स्थलों या अंशों में ताराचिह्न दिये गये हैं उन्हें इन्टरमीडीएटके छात्रों को नहीं पढ़ना है।

मूल्य १०) मात्र
(सजिल्द)

(२) नागरिकशास्त्र (Civics)

(नागरिक और राज्य)

नागरिकशास्त्र पर लिखी यह पुस्तक अनुपम है। इसमें नागरिक और राजनीतिक समस्याओं का जैसा सागोपांग विश्लेषण हुआ है वैसा सुन्दर विश्लेषण आपको अन्यत्र किसी और पुस्तक में (चाहे हिन्दी या अंगरेजी) में नहीं मिलेगा। विषयों का सुसम्बद्ध एवं वैज्ञानिक विवेचन अत्यन्त सरल, सरस और हृदयग्राही भाषा-शैली में किया गया है। इसकी अद्वितीय विशेषता यह है कि इसका प्रत्येक अध्याय वर्तमान भारतीय गणतांत्रिक संविधान तथा पृष्ठभूमि में लिखा गया है और उसमें भारत के १९३५ के संविधान की अन्यान्य देशों के संविधानों का तुलनात्मक आभास भी जगह-जगह दिया गया है। इसका एक-एक पृष्ठ अमूल्य और पठनीय है। इसमें २७ अध्याय और रॉयल साईज सोलह पेजी आकार के ५२० पृष्ठ है।

अध्यायों के शीर्षक ये हैं—मनुष्य की विचित्र प्रकृति, वफादारियों (Loyalities) के सामंजस्य का प्रश्न, नागरिकशास्त्र-एक अध्ययन, समाज और व्यक्ति, समुदाय, परिवार, अधिकार और कर्तव्य, नागरिकता राज्य, राज्यसत्ता, राज्य की उत्पत्ति, राज्य के कार्य, समाजवादी दुनिया के आगे, राज्याधिकारों का विभाजन, राज्य का संविधान, राज्य के भेद, व्यवस्था-

पिका, कार्यकारिणी, कोई सरकार असफल क्यों होती है, न्याय-विभाग, राजनैतिक दल, जनमत, निर्वाचक दल, आधिपत्य, स्वतंत्रता और समानता, राष्ट्रीयता बनाम अन्तर्राष्ट्रीयता, भारतीय ग्रामोंका पुनर्निर्माण तथा भारतीय गणतंत्र का शासन-विधान। विशेषतः पटना विश्वविद्यालय और सामान्यतः अन्य विश्वविद्यालयों की इन्टरमीडीएट परीक्षाओं में दिया गया कोई ऐसा प्रश्न न होगा जिसकी विशद व्याख्या इस पुस्तक में आपको न मिले। यह ग्रन्थ भारत के प्रत्येक नागरिक के लिये पाठनीय है।

केवल इसी एक ग्रन्थ से नागरिकशास्त्र (CIVICS) विषय के दोनों पत्रों (सिद्धान्त तथा भारतीय शासन-विधान) का काम चल जायगा। इसका 'राज्य' शीर्षक भाग काफी विस्तार के साथ लिखा गया है और उसमें बहुत ऐसे अंश हैं जिन्हें बी० ए० राजनीति (POLITICS) के छात्र भी पढ़कर यथेष्ठ लाभ उठा सकते हैं। पुस्तक गरम पावरोटियों की तरह बिक रही है। आज ही अपना आर्डर हमें भेजें वा अपने सन्निकट पुस्तक-विक्रेता को ही दे डालें।

(३) व्यावसायिक संगठन

(Business Organisation)

अपने विषय की पहली पुस्तक जिसमें विषयों का सांगोपांग वर्णन हुआ है—२५ अध्याय—Dm, ½ साईज के ४२५ पृष्ठ—विषय की भूमिका, दाम की प्रणाली, श्रम-विभाजन, औद्योगिक निपुणता, प्रामाणिकता और उद्योग-प्रवर्तक, व्यावसायिक संगठन के कुछ रूप, समन्वय, एकाधिकार की समस्याएँ, छोटा बनाम बड़ा उद्योग, प्रतिनिधि फर्म बनाम आदर्श फर्म, उद्योग-धंधों का स्थानीयकरण, वैज्ञानिक प्रबन्ध, चेतनाकरण (रेशनलाइजेशन), बाजारों का संगठन, सट्टेबाजी, स्वर्णिम नियम, सार्वजनिक उद्योगों की रूप-रेखा, आधुनिक व्यावसायिक प्रवृत्तियाँ और योजनाकरण, अर्थ और उद्योग, (अर्थात् औद्योगिक बैंकिङ्ग की रूप-रेखा) उपभोक्ता की सार्वभौमिकता, सहयोग का आन्दोलन, श्रमिकों की कुछ विशिष्ट समस्याएँ, मजदूरों का नियंत्रण और सम्मिलित नियंत्रण,

एकाधिकारों पर कुछ विशेष विचार, राष्ट्रीयकरण का प्रश्न, हमारी आर्थिक समस्याएँ—इस विषय पर उपलब्ध लगभग कुल पुस्तकों को दृष्टि में रखकर लिखित—आकर्षक कवर—हृदयग्राही भाषा-शैली—अंगरेजी में सुन्दर संदर्भ तथा उद्धरण—जोरदार भूमिका और सहायक ग्रन्थों की विशद सूची—ग्रेज्युएट (पास और ऑनर्स, तथा वाणिज्य) कक्षाओं के लिए अपरिहार्य—अपने देश के सभी विश्वविद्यालयों की आवश्यकताओं और परीक्षा-प्रश्नों को ध्यान में रखकर विरचित—एक नया एवं स्वस्थ दृष्टिकोण—मूल्य ६) मात्र (सजिल्द) ।

(४) मुद्रा-शास्त्र और बैंक-शास्त्र

Money and Banking)

निराली पुस्तक—रॉबर्टसन, केन्स' क्राउथर, कोलबर्न, कोल, हाम, हेनसेन, चैन्डरल, शेयर्स, डिकोक, हॉट्रे, ग्रेगरी, बसु, मुरंजन, किश और एलकिन, प्रभृति, अर्थशास्त्रवेत्ताओं के ग्रन्थों के आधार पर लिखित—सुन्दर भूमिका, सहायक-ग्रन्थों की विशद सूची-पारिभाषिक शब्दों के पर्याय विषय-सूची में, शीर्षक में और उचित प्रसंग में भी—२१ अध्याय—मुद्रा-शास्त्र की भूमिका, मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन, मुद्रा-स्थिति का विश्लेषण, मुद्रा का मूल्य—कारण, मुद्रा का मूल्य—निर्धारण, मौद्रिक प्रणालियाँ या प्रमाप, स्वर्णप्रमाप का विशेष अध्ययन, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक-निधि, साख या बैंक-मुद्रा, मौद्रिक नीति के उद्देश्य, बैंकों की रूप-रेखा और उनकी समस्याएँ, केन्द्रीय बैंक की रूप-रेखा और कार्य, केन्द्रीय बैंक-साख के नियंत्रणकर्त्ता के रूप में, साख-नियंत्रण के साधनों का विशेष अध्ययन—बैंक-दर का सिद्धान्त (आन्तरिक पक्ष और बाह्य पक्ष), पूँजी-संग्रह और पूँजी-विनियोग पर केन्द्रीय बैंक का प्रभाव (अर्थात्-मूल्य-तल पर बैंकिङ्ग प्रणाली का प्रभाव), कुछ प्रसिद्ध मुद्रा-बाजार, केन्द्रीय बैंकों के सामाजीकरण का प्रश्न; लार्ड केन्स का "कीमतों का सिद्धान्त", केम्ब्रिज समीकरण, अन्तर्राष्ट्रीयबैंक—इस पुस्तक को ठीक तरह से पढ़ लेने और मनन कर लेने पर कोई भी ऐसा प्रश्न नहीं जिसका प्रथम कोटि का उत्तर छात्र न दे सकें—मूल्य ६) मात्र (सजिल्द) ।

(५) अन्तराष्ट्रीय व्यापार एवं वैदेशिक विनिमय

(International Trade & Foreign Exchange)

दो भाग—लगभग १५ अध्याय—पारिभाषिक शब्दों की कठिनाइयों का पर्याप्त निवारण—अति-आधुनिक प्रवृत्तियों का भी विवेचन—एलस्वर्थ, कैसेल, हैवर्लर, ओहलिन, एँके और सैलेरा, हाम, माइनर, टॉड, आदि ग्रन्थकारों के मतों का आलोचनात्मक उल्लेख—कुछ रेखा-चित्र भी—सुन्दर छपाई तथा मनोहर गेट-अप—पाठ्य-क्रमों तथा परीक्षा-पत्रों का पूरा ध्यान—मूल्य ४) (सजिल्द) ।

(६) सार्वजनिक अर्थशास्त्र—

(७) भारत की आर्थिक समस्याएँ—(भारतीय अर्थशास्त्र) (प्रेस में)

(८) भारत का आर्थिक इतिहास—(अपूर्ण)

(९) आर्थिक अध्ययन (Economic Studies)

[हिक्स के "Social Framework," पीगू के "Income", तथा क्रूस के "An Approach to Economics" ग्रन्थों का विश्लेषणात्मक अध्ययन—ये पुस्तकें पटना विश्वविद्यालय से I. A. के छात्रों के लिये स्वीकृत हैं और पठनीय हैं—इस पुस्तक के चतुर्थ भाग में लेखक ने मुद्रा-शास्त्र, बैंक-शास्त्र, सार्वजनिक अर्थ, आदि के आवश्यक विषयों पर प्रकाश डाले हैं जो इन्टरमीडियट के छात्रों के लिए परम उपादेय हैं]